हिन्दू-धर्म के ज्ञान-मय क्रिया-पक्ष की शोध-पूर्ण प्रस्तुति

'कौल-कल्पतरु'

चण्डी

(सं० १९९९ वि०-सन् १९४२ ई० से प्रकाशित)

धर्म-चर्चा

(२)

पं० देवीदत्त शुक्ल
की
हिन्दू-धर्म-विषयक
सार-गर्भित सम्पादकीय टिप्पणियाँ
धर्म-चर्चा

आजकल कुछ लोग आर्यों की प्राचीन संस्कृति की प्रायः बातें करते दिखाई दे रहे हैं। उनका कहना है कि 'आर्य-संस्कृति' की अच्छी-अच्छी बातें लेकर 'नई सभ्यता' को उपयोगी बातों के आधार पर, हमें अपने समाज का 'नव-सङ्गठन' करना चाहिए, जिससे हमारा भारतीय राष्ट्र संसार के उन्नत राष्ट्रों के बराबर बैठ सके कि हम भी कुछ हैं ! यह सब तो ठीक है, परन्तु आश्चर्य हमें तब होता है, जब कुछ लोग आर्यों और उनकी संस्कृति को प्राचीन कहते हैं, मानों उनका इस पवित्र भूमि में आज अस्तित्व ही न हो !

न तो आर्यों का और न उनकी संस्कृति का ही इस पवित्र भूमि से कभी तिरोधान हुआ है और न उसके तिरोधान होने की भविष्य में सम्भावना है। आर्य भी और उनकी संस्कृति भी इस पवित्र 'भारत - भूमि' में पहले की ही तरह आज भी फल-फूल रही है। यदि ऐसा न होता, तो हमारा 'भारत' भी चाल्डिया, बेबलन, प्राचीन मिश्र आदि - आदि देशों की तरह इतिहास की सामग्री बन गया होता। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी ही दृष्टि से अपनी वस्तु को देखें। तभी उपर्युक्त भ्रान्ति दूर हो सकेगी और हम वास्तविक पदार्थ को पहचान सकेंगे।

यह प्रति ४-५० रु०/वार्षिक मूल्य ५० रु०

सिंहावलोकन

सम्मान्य सम्पादक महोदय,

'...वी० पी० पी० से 'चण्डी' (**स्वर्ण-जयन्ती**) के साधारण अङ्क १ व २ के सङ्ग बड़ा ही सुखद आश्चर्य लिए, 'नवरात्र' पर विशेषाङ्क (**नवरात्र - कल्पतरु**) मिला। इस नूतन प्रयास-प्रकाशन के लिए हार्दिक अभिनन्दन स्वीकृत हो ! आश्विन नव - रात्र में माँ की साङ्गोपाङ्ग महा - पूजा से पुराना सम्बन्ध होने के कारण यह मेरे लिए बड़ा ही प्रेरक है। बहुतों के हित की सामग्री इसमें है, जिससे लाभान्वित हो सकते हैं।

५० वें वर्ष की पहली संख्या १ (अप्रैल ८१) का जो विशिष्ट मोहक आकर्षक रूप देखा, उसके लिए आप निश्चयतः बधाई लें। एक तो **'स्वर्ण-जयन्ती'** का 'कलश'-कलेवर-सुन्दर चित्रण भाव ! दूसरे प्रथम स्तर का महत्त्व-पूर्ण प्रकाशन--**पण्डित सुखदेव मिश्र जी का 'देवी - अष्टक'**, जो २०० वर्ष से अधिक प्राचीन है, किन्तु कितना कमनीय अपितु नवीन लगता है ! **'स्वर्ण - जयन्ती'** के प्रथम अङ्क में ही, इस 'अष्टक' द्वारा आपने माँ की महिमा को जो सर्व - प्रथम प्रधानता दी है, इससे बहुतों का हित होगा। कदाचित् कवित्त में तो शूर-वीरों का गुण-गान अधिक होता है, यदा-कदा 'भगवा-गान' भी देखा गया है, किन्तु माँ का गुण-गान इस 'अष्टक' में विविध वैचित्र्य लिए अनोखा ही लगा। साधुवाद !

क्या यह सम्भव नहीं कि पण्डित सुखदेव मिश्र जी की जीवनी पर कुछ अधिक प्रकाश दिया जाय ?

अपने यहाँ ऐसी अमोल धरोहर कहाँ कितनी धरी पड़ी है, कौन जाने ! आपका अथक प्रयास इन्हें ढूंढ़ कर जन-मानस तक पहुँचाना बड़ा ही रचनात्मक कार्य रहा है। 'तन्त्र-यन्त्र-मन्त्र' इस प्रयास में निहित हैं ही, किन्तु माँ के **'नव-रात्र-विधान'** की **'महा - पूजा'** को विभिन्न अङ्गों और दृष्टि - कोणों से सामने लाना एक विशिष्ट अनूठा प्रयास है और शीर्ष में पण्डित जी कृत 'अष्टक' तो समुद्र में गोते लगाकर अनमोल मोती ही चुनना है !

'देवी-अष्टक' का एक गुटका दैनिक वन्दना के लिए इस प्रकार--

द्वार परे तेरे रहौं और के न नेरे,
जगदम्ब अवलम्ब मेरे एक तू भवानी है।
गरे परे तेरे रहौं और के न नेरे,
जगदम्ब अवलम्ब मेरे एक तू भवानी है।
शर्न गहे तेरी रहौं और के न नेरे,
जगदम्ब अवलम्ब मेरे एक तू भवानी है।
चर्न गहे तेरे रहौं और के न नेरे,
जगदम्ब अवलम्ब मेरे एक तू भवानी है।
आशा किहे तेरे रहौं और के न नेरे,
जगदम्ब अवलम्ब मेरे एक तू भवानी है।

(शेष पृष्ठ आवरण ३ पर)

कौल-कल्पतरु

चण्डी

वर्ष ५०] ज्येष्ठ, 'तारण' २०४८ वि०—जून, १९९१ [संख्या ३

१ सम्पादकीय : सद्-गुरु की कृपा और शिष्यत्व की योग्यता २
२ विश्वास ('बिहार में शक्ति-साधना' नामक पुस्तक से उद्धृत) ३
३ ईश्वर-पूजन-मार्ग : ब्रह्मीभूत प० पू० स्वामी पूर्णानन्द जी ४
४ भगवान् श्री शङ्कराचार्य विरचित आनन्द-लहरी का माहात्म्य एवं पाठ-विधि :
ब्रह्मीभूत प० पू० स्वामी शिवानन्द जी ५
५ देवी-माहात्म्य या दुर्गा सप्तशती ७

धर्म-चर्चा

[चण्डी के प्रवर्त्तक पं० देवीदत्त शुक्ल द्वारा 'चण्डी' मासिक पत्रिका के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित हिन्दू-धर्म-विषयक सार-गर्भित सम्पादकीय टिप्पणियाँ —'चण्डी' वर्ष ५०, मई, १९९१ की ३१ सम्पादकीय टिप्पणियों के आगे का अंश]

३२ भारतीयों की मनोदशा (१), (२) ('चण्डी' २००९ वि०–१९५२ ई०) ३३
३३ हमारा अधः-पतन ! ('चण्डी' २००९ वि०–१९५२ ई०) ३८
३४ यह कैसा खेल ! ('चण्डी' २००९ वि०–१९५२ ई०) ४०
३५ हित की बात ('चण्डी' २००९ वि०–१९५२ ई०) ४१
३६ भारी त्रुटि ('चण्डी' २००९ वि०–१९५२ ई०) ४३
३७ राष्ट्र-पति का धार्मिक आचरण ('चण्डी' २००९ वि०–१९५२ ई०) ४४
३८ 'देव-बल' और मनुष्य ('चण्डी' २०१० वि०–१९५३ ई०) ४५
३९ काम्य-साधना और तन्त्र ('चण्डी' २०१० वि०–१९५३ ई०) ४७
४० 'तान्त्रिक साधना' का रहस्य ('चण्डी' २०१० वि०–१९५३ ई०) ४८
४१ कल्याण का मार्ग ('चण्डी' २०१० वि०–१९५३ ई०) ४९
४२ विधि और नियम का महत्त्व ('चण्डी' २०१० वि०–१९५३ ई०) ५०
४३ विचारक बनाम साधक ('चण्डी' २०१० वि०–१९५३ ई०) ५२
४४ धर्म-प्रचार की आवश्यकता ('चण्डी' २०१० वि०–१९५३ ई०) ५५
४५ 'मन्त्र-साधना' का वास्तविक रूप ('चण्डी' २०१० वि०–१९५३ ई०) ५६

सम्पादकीय

सद्-गुरु की कृपा और शिष्यत्व की योग्यता

सद्-गुरु की कृपा-लहरियाँ सर्वत्र सबको सम-भावेन स्पर्श करती हैं। बिल्कुल उसी प्रकार जैसे रेडियो-स्टेशन से प्रसारित समाचार की ध्वनि-लहरियाँ सर्वत्र सम-भाव से व्याप्त होती हैं, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति उन कृपा-लहरियों से लाभान्वित नहीं हो पाता—ठीक उसी प्रकार, जैसे प्रत्येक व्यक्ति उन समाचार-लहरों को ग्रहण कर समाचार ज्ञात नहीं कर सकता। इससे लाभान्वित वे ही हो पाते हैं, जिनके पास रेडियो-सेट हैं एवं जो अपने रेडियो-सेट से उक्त ध्वनि - ग्रहण करने को प्रयत्न - शील होते हैं। शेष रेडियो-सेट न रखनेवाले अथवा उससे ध्वनि-ग्रहण करने को प्रयत्न-शील न होनेवाले—दोनों ही समाचार-श्रवण से वञ्चित ही रहते हैं।

'साधना-पथ' में यह रेडियो-सेट है—'शिष्यत्व की योग्यता।' इस योग्यता को जो प्राप्त कर लेता है, वह समाचार-लहरियों की तरह श्रीगुरु-देव की कृपा-लहरियों से निश्चय ही लाभान्वित होता है। उसी को ब्राडकास्टिङ्ग स्टेशन के समाचार-दाता—आत्म-तत्त्व के ज्ञापक—अपना ज्ञापन प्रदान कर कृत-कृत्य करते हैं।

रेडियो - सेट अर्थात् शिष्यत्व की योग्यता प्राप्त करने के लिए पहले तो उसका मूल्य जानना होता है। फिर यह देखना होता है कि जो कुछ मूल्य उसका है, उसमें से कितना धन हमारे पास पूर्व-सञ्चित विद्यमान है एवं कितने धन की और आवश्यकता है तथा अवशिष्ट धन किस प्रकार और प्राप्त किया जा सकता है। पुनः अवशिष्ट सम्पत्ति की प्राप्ति के निमित्त प्रयास करना होता है। जब वह सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है एवं रेडियो का पूरा मूल्य अपने पास एकत्र हो जाता है, तब रेडियो अर्थात शिष्यत्व की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

संक्षेप में शिष्यत्व की प्राप्ति के लिए पहले आवश्यक होता है शिष्यत्व के सम्पूर्ण लक्षण - गुणों की जानकारी। तदुपरान्त यह देखना होता है कि उनमें से कितने लक्षण या गुण हममें विद्यमान हैं। ध्यान रहे--यह 'आत्म-परीक्षण' सरल कार्य नहीं। मन इतना बड़ा वकील है कि अपने तर्कों द्वारा अपने अन्दर सभी गुणों का समावेश सिद्ध कर देता है। उससे सावधान रहकर ही 'आत्म - निरीक्षण' सम्भव है। उन स्थितियों में अपना अडिग भाव बनाए रखना आवश्यक है। अब अवशिष्ट गुणों की प्राप्ति के निमित्त प्रयत्न-शील होना होता है।

जब शिष्यत्व की पूर्ण योग्यता सम्पादित हो जाती है, तब श्रीगुरु - कृपामृत की लहरों का स्पर्श स्वयं ही होने लगता है। उन्हें खोजने कहीं नहीं जाना होता। विधि-वत् दीक्षा - प्राप्ति के उपरान्त भी जिन्हें परिपूर्ण सफलता अभी आकाश-कुसुम बनी हुई है, वे कृपया शान्त हृदय से एक बार 'आत्म-निरीक्षण' द्वारा यह देखने का कष्ट करें कि जिस साधना-पथ में वे अग्रसर हो रहे हैं, उसका अधिकारी कौन है एवं क्या दीक्षा से पूर्व--नहीं--आज तक भी क्या उन्होंने उन योग्यताओं को प्राप्त कर लिया है, जो उक्त अधिकारी की अनिवार्य विशेषताएँ आवश्यक हैं?

'सद्-गुरु' से प्राप्त 'मन्त्र' के प्रति सच्ची श्रद्धा को स्पष्ट करनेवाली एक सत्य घटना–

विश्वास

श्री योग-माया की अपूर्व माया है. जिनके कारण निराकार पर-ब्रह्म भी साकार होकर 'हिरण्य-गर्भ' कहलाने लगते हैं। उन्हीं की अपूर्व लीला विश्व को विमोहित कर नाना प्रकार के खेल खिलाती रहती है, पर भक्तों के आगे दूसरी ही लीला होती है, भक्त - गण भी अचल - रूप से अपने कर्त्तव्य - पथ पर डटे रहते हैं।

आज से दो शताब्दी पूर्व यह सत्य घटना घटित हुई थी। तब मिथिला में शाक्त-गण केवल दार्शनिक ही नहीं, अपितु वैध यागादिक क्रिया - काण्ड में भी पारङ्गत थे। घर-घर अर्चना होती थी। माँ श्यामा की कृपा से अनेक सिद्ध-गण अपने वस्त्र भी आकाश में सुखाते थे। नित्य नई-नई सिद्धियाँ प्राप्त होती थीं। उसी समय मध्य मिथिला में एक छोटे से ग्राम में शिवानन्द नाम के एक पण्डित रहते थे। उनके परिवार में कोई नहीं था। थी केवल मा की भक्ति-भावना; हृदय में विश्वास था; मन पर अधिकार था, गुरु की कृपा थी ! शास्त्रों में भी वे पारङ्गत विद्वान् थे।

कुटिल काल की प्रगति से पण्डित जी बहुत वृद्ध हो गए। शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन कार्य बन्द हो गया था। अहर्निश केवल माँ के चरण-दर्शन के लिए लालायित रहते थे। अपने शरीर की भी चिन्ता नहीं, भोजन का स्वाद नहीं, वस्त्र का भी प्रयोजन नहीं था। नित्य उषः-काल का स्नान करने के लिए नदी-तट पर जाते थे। कभी कुटी में झाड़ू भी नहीं पड़ती थी।

अकस्मात् एक दिन समस्त कुटिया झाड़ू से झाड़ी-सो हुई जगमगाती पण्डित जी को दिखाई पड़ी। दूसरे दिन भी–यही नहीं, यह नित्य की घटना हो गई ! पण्डित जी को एक चिन्ता-सी व्याप्त हो गई—'यह हमारा अज्ञात मित्र कौन हो गया है ? इस कुटी की जगमगाहट तो अपूर्व ही देखने में लगती है !'

क्या ही विचित्र परिस्थिति थी ! पण्डित जी कर ही क्या सकते थे ? उनके स्नान करने के समय में यह कार्य नित्य हो जाता था। एक दिन अकस्मात् एक सोने का खर (सींक) झाड़ू से गिरा हुआ पण्डित जी को दृष्टि-गत हुआ—'यह कैसी विचित्र घटना है ! सोने की झाड़ू से हमारी कुटिया बुहारी जाती है !! इस विचित्र कार्य का सम्पादक कौन है ?' इसके अन्वेषण में पण्डित जी लग गए।

एक दिन वे एक झाड़ी में छिपकर बैठ गए और देखने लगे। एक विचित्र सुन्दरी स्त्री नाना प्रकार के दिव्य भूषणों से भूषिता, कमल के समान मुखवाली, हाथ में सोने की झाड़ू लिए प्राङ्गण बुहारने लगी। पण्डित जी ने प्रकट होकर उससे परिचय तथा यह कार्य करने का कारण पूछा। यह स्त्री शुद्ध संस्कृत में उत्तर देने लगी—'मैं देवी की परिचारिका हूँ। मुझे यही आज्ञा मिली हुई है। इसी से मैं नित्य यह कार्य करती हूँ। मुझे आप बाधा न दीजिए।'

यह सुन कर पण्डित जी स्तब्ध हो गए। फिर सोचकर बोले—'अच्छा, क्या आप एक बिल्व-पत्र पर लिखा हुआ मेरा मन्त्र माँ की दृष्टि में लाने का यत्न करने का कष्ट उठा सकेंगी।'

'यह कौन बड़ी बात है ? स्नान के समय मैं उसी जल में यह बिल्व-पत्र निक्षेप कर दूँगी।' यह कहकर चेरी पत्र लेकर चली गई।

[शेष पृष्ठ ४ पर]

ईश्वर-पूजन का मार्ग

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कु-बुद्धिरेषा ।

अहं करोमीति वृथाऽभिमानः, स्व-कर्म-सूत्रे ग्रथितो हि लोकः ।।

एक शिकारी हिरन को मारने के लिए तीर छोड़ता है। दैव-वश वह तीर हिरन को लगता है और वह मर जाता है। अब यदि उस हिरन को बोलना आता और वह कहता कि—'इस तीर ने मुझे मार डाला अर्थात् इस तीर ने मुझको मृत्यु का दुःख दिया, तो हम कहते कि—'भाई हिरन! तुम्हारी बात ठीक नहीं है। तीर तो जड़ है, वह तुमको कैसे मार सकता है? तुमको मारनेवाला तो शिकारी है, जिसने तुम्हें मारने के लिए तीर छोड़ा था।'

अब जरा सूक्ष्म बुद्धि से विचार कीजिए कि जैसे तीर शिकारी के हाथ का साधन-मात्र है, वैसे ही शिकारी भी उस महान् जादूगर के हाथ का साधन-मात्र है, जो 'विश्व-नियन्ता' कहलाता है। हिरन की मृत्यु तो उसके प्रारब्ध के भोग की समाप्ति के कारण हुई। उसका प्रारब्ध-भोग शेष होता, तो वह तीर उसको न लगता, क्योंकि यह कहना बनता नहीं कि हर बार शिकारी जब तीर छोड़ता है, तब किसी प्राणी को लगता है और लगने पर वह मर ही जाता है।

इसलिए हिरन को तो उसके पूर्व-कृत कर्मों के फल-स्वरूप ही मृत्यु प्राप्त हुई, परन्तु शिकारी जो यह अहङ्कार करता है--'हिरन को मैंने मारा', तो उसे हिरण की हत्या का पाप अवश्य लगेगा।

उपर्युक्त दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि—**मनुष्य को सुख-दुःख देनेवाला दूसरा कोई नहीं है। दूसरा कोई मुझे सुख-दुःख देता है, यही निर्बुद्धिता है और "मैं करता हूँ"—यह "अज्ञान" है। इस अज्ञानता के कारण ही हमें कर्मों के फल-रूप में 'सुख-दुःख' की प्राप्ति होती है।**

सारांश यह है कि यदि 'कर्म'-'निष्काम'-भाव से किए जाते हैं, तो उनसे बन्धन नहीं होता, बल्कि जन्म-मरण का बन्धन भी छूट जाता है और शाश्वत सुख को प्राप्ति होती है। जो कर्म-फलों की आशा लिए रहता है, उसका जन्म-मरण चालू रहता है।

सभी शरीरों में एक ही 'आत्मा' विराजमान है। अतः किसी भी साधना से किसी भी देह-धारी को सुख पहुँचाना भी—"**ईश्वर-पूजन**" है। '**ईश्वर-पूजन**' का यह मार्ग इतना सुगम है कि हर मनुष्य इसको बड़ी सरलता के साथ कर सकता है, केवल "दृष्टि-दोष" दूर हो जाना चाहिए। बस, एक बार यदि दृष्टि शुद्ध हो जाए या भाव-शुद्धि हो जाए, तो सारा जीवन ही "पूजन-स्वरूप" बन जाएगा।

(पृष्ठ ३ का शेष)

दूसरे दिन आकर पण्डित जी से चेरी कहने लगी, 'आपका मन्त्र माँ के निकट पहुँचा था। देखकर माँ ने हँस दिया तथा मुझसे कहा कि 'पण्डित से जाकर कहो कि उनका मन्त्र झूठा है।'

"झूठा! सो भी मेरा मन्त्र! निकलो हमारे प्राङ्गण से। तुम कहो या तुम्हारी माँ कहें, यह मेरा मन्त्र झूठा हो ही नहीं सकता।" पण्डित जी क्रोध से थर - थर काँप रहे थे। उनके शरीर का तेज क्रमिक प्रकाशित-सा होने लगा। हठात् अभय- वर - हस्ता माँ श्यामा प्रकट होकर हँसने लगीं और उन्होंने अपना अभय हस्त पण्डित जी के मस्तक पर रख दिया।

पण्डित जी सदेह मणिपुर गए, या नश्वर शरीर को छोड़कर, इसमें आज तक मत-भेद ही है।

 ('बिहार में शक्ति-साधना', मूल्य ८) से उद्धृत)

भगवान् श्रीशङ्कराचार्य
विरचित

आनन्द-लहरी

का

माहात्म्य एवं पाठ-विधि

ब्रह्मीभूत प० पू० स्वामी शिवानन्द जी

'सौन्दर्य-लहरी' का अर्थ है—सुन्दरता की लहर क्योंकि इसमें देवी के स्थूल स्वरूप का वर्णन है। **'आनन्द-लहरी'** का अर्थ है—आनन्द या प्रसन्नता की लहर। **'सौन्दर्य-लहरी'** के प्रारम्भ के ४१ श्लोक तो **'आनन्द-लहरी'** के हैं तथा अन्य सभी छन्द **'सौन्दर्य-लहरी'** के अन्तर्गत आते हैं। इस सु-प्रसिद्ध ग्रन्थ के रचयिता भगवान् आदि शङ्कराचार्य थे, जिनका जन्म दक्षिण भारत के कालादी (मलाबार) नामक ग्राम में हुआ था। वे अपूर्व बुद्धि-शाली तथा वेदान्त - ज्ञान के सर्व - श्रेष्ठ उपदेशक थे। देवी के सभी स्तोत्रों में **'सौन्दर्य - लहरी'** का स्थान सर्व - प्रथम है। इसके सभी श्लोक या छन्द भाव - पूर्ण और उत्तेजक हैं।

'आनन्द-लहरी' में **'कुण्डलिनी'**-योग, 'षट्-चक्र' तथा अन्य तान्त्रिक विषयों का वर्णन है। यह 'सौन्दर्य-लहरी' एक अनूठा ग्रन्थ है। इसमें श्रीविद्या का सार-रूप से वर्णन है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ के अनेकानेक भाष्य या टीकाएँ हैं। श्री श्रीविद्या की उपासना का प्रचार दक्षिण भारत में अधिक है, विशेष कर मलाबार प्रान्त में।

इस ग्रन्थ में देवी की स्तुति अति मनोहर छन्दों में की गई है। इन श्लोकों में उच्च-कोटि के भाव, विलक्षण भक्ति की तीव्रता, काव्य-कला तथा आगम व तन्त्रों के निगूढ़ रहस्यों का स्पष्ट वर्णन है। इनमें देवी की पूजा तथा विविध प्रकार की सिद्धियों के प्राप्त करने के अनेकानेक मन्त्र और यन्त्र भी हैं।

श्री श्रीविद्या की उपासना सभी उपासनाओं के समान दो प्रकार की है—१ बाह्य और २ आन्तरिक। बाह्य-पूजा प्राथमिक साधकों के लिए तथा आन्तरिक पूजा समुन्नत अधिकारियों के लिए है। आन्तरिक पूजा में 'क्रिया-पद्धति' या 'शास्त्र - विधि' का कर्म - काण्ड नहीं है। शरीरस्थ विविध चक्रों में शक्ति - सहित शिव की पूजा की जाती है।

आन्तरिक या मानसिक उपासना के अधिकारी **'मन्त्र-जप'** द्वारा कुण्डलिनी-शक्ति को, जो मूलाधार में स्थित है, जाग्रत करते हैं। कुण्डलिनी - शक्ति जब जाग्रत हो जाती है, तो उसे षट्-चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार में ले जाकर शिव से संयोजित करते हैं। यही 'जीव' और 'शिव' की एकता है—'जीवात्मा' और 'परमात्मा' की एकता है।

बाह्य पूजा-प्रकार में **'श्री-चक्र'** का पूजन किया जाता है। यह श्री-यन्त्र स्वर्ण अथवा अन्य धातु का होता है। पाद्य, अर्घ्य, आसन आदि 'उपचार' तथा 'मुद्रा' या हाव-भाव (सङ्केतों) सहित मन्त्रों की आवृत्ति की जाती है।

प्रत्येक श्लोक में बीजाक्षर-सहित एक 'यन्त्र' तथा उसकी 'पूजा'-प्रकार का वर्णन है। बीजाक्षर और यन्त्र किसी स्वर्ण या ताम्र-पत्र पर अङ्कित किए जाते हैं। नैवेद्य, जो देवी को अर्पण किया जाता है, वह पूजा अथवा कामना के भेद से विभिन्न प्रकार का होता है।

विशिष्ट यन्त्र और विशिष्ट उपचार सहित विशिष्ट प्रकार की पूजा के द्वारा निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति होती है। इसमें समय की विभिन्नता है—चार से १८० दिन। विभिन्न यन्त्रों में विभिन्न बीजाक्षरों तथा विभिन्न उपचारों-सहित देवी का पूजन करने से--**व्यवसाय में सफलता, असाध्य रोगों का उन्मूलन, पञ्च-भूतों पर आधिपत्य, वाक्-पटुता (वक्तृत्व-शक्ति), शत्रु पर विजय, धन, विद्या, प्रभुता आदि की प्राप्ति की जा सकती है।**

संसारी लोग साधारणतया इन श्लोकों के द्वारा सांसारिक भोगेच्छाओं की पूर्ति के लिए देवी की स्तुति व प्रार्थना करते हैं। सफलता साधक की श्रद्धा और भक्ति पर निर्भर है। यदि फल-प्राप्ति में विलम्ब हो, तो आपको श्रद्धा-पूर्वक कुछ अधिक दिनों तक उपासना जारी रखनी पड़ेगी। इन्हीं छन्दों द्वारा आप 'मुक्ति' भी प्राप्त कर सकते हैं, यदि आप माता से उसके लिए प्रार्थना करें।

शक्ति और शिव के ऊपर परा-शक्ति और सदा-शिव के अनेक विभिन्न रूप हैं। महा-शक्ति या परा-शक्ति में 'शुद्ध-तत्त्व' निहित है। उसमें 'रजस्' और 'तमस्' नहीं होता। अन्य शक्तियों में 'रजस्' और 'तमस्' के ऊपर 'सत्त्व' की अधिकता होती है। अतः वही परा-शक्ति पर - ब्रह्म की उच्च - तम प्रतिभा है।

विभिन्न शक्तियाँ ये हैं--**परा-शक्ति, आदि-शक्ति, इच्छा-शक्ति, विद्या-शक्ति, ज्ञान-शक्ति, बाला, त्रिपुर-सुन्दरी, राज-राजेश्वरी, अन्न-पूर्णा, गायत्री, सावित्री, कुण्डलिनी** तथा कई अन्य। यद्यपि प्रत्येक प्रकृति एक विशेष फल को उत्पन्न करती है, तथापि वह सामान्य फल भी उत्पन्न कर सकती है। आप कोई विशिष्ट फल की प्राप्ति चाहते हैं, तो आपको तत् - सम्बन्धी नाम को लेकर देवी की उपासना करनी चाहिए।

जिस प्रकार बीज में फल, दूध में मक्खन, बचपन में पौरुष छिपा रहता है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य में विविध शक्तियाँ भी अज्ञान से आवृत होकर सुषुप्त रहती हैं। यदि आप अपने मन को शुद्ध कर ध्यान-धारणा का अभ्यास करें, तो ये सारी शक्तियाँ प्रकाशित हो सकती हैं।

'ध्यान' या 'उपासना' का अन्तिम फल ध्येय वस्तु के साथ तादात्म्य - सम्बन्ध स्थापित करना है। ध्याता और ध्येय एक हो जाते हैं। देवी की उपासना या पूजा के द्वारा भक्त भी देवी के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित कर देवी-स्वरूप हो जाता है।

'कूर्म-पुराण' का कथन है—**'पानी अग्नि को शान्त करने, सूर्य अन्धकार को दूर करने तथा देवी के नामों का जप इस कलि-काल में कोटि-कोटि पापों का नाश करने में समर्थ है।'** 'ब्रह्म-पुराण' में कहा है--**'विधि या अविधि से भी जो पर-शक्ति की उपासना करते हैं, वे संसार-बन्धन में नहीं पड़ते। निःसंशय वे मुक्तात्मा ही हैं।'**

जो भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के इच्छुक हैं, उन्हें चाहिए कि वे नित्य प्रातः-काल में 'आनन्द-लहरी' का स्वाध्याय करें। आप चार बजे 'ब्राह्म-मुहूर्त' में उठ जाइए। शौच-स्नानादि से निवृत्त

(शेष पृष्ठ ७ पर)

देवी-माहात्म्य
या
दुर्गा सप्तशती

'महा - भारत' के 'भीष्म - पर्व' के अठारह अध्यायों (२४-४१) को पृथक् करके जिस प्रकार '**भगवद् - गीता**' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण किया गया है, उसी प्रकार 'मार्कण्डेय - पुराण' से तेरह अध्याय (७४-८६) निकाल कर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण किया गया है, जो '**देवी-माहात्म्य**' या '**दुर्गा-सप्तशती**' के नाम से विख्यात है।

हिमालय पर्वत से लेकर कन्या - कुमारी तक समस्त भारत में प्रायः समस्त आस्तिक हिन्दुओं के घर में '**दुर्गा-सप्तशती**' या '**चण्डी-पाठ**' का प्रचार है। यह एक पुण्य - तम ग्रन्थ के रूप में समादृत है और लोगों का विश्वास है कि इसका श्रद्धा-पूर्वक पाठ करने से सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

स्वयं भगवती चण्डी देवी ने इस 'चण्डी-माहात्म्य' या 'दुर्गा-सप्तशती'-स्तोत्र का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए कहा है कि—"**चित्त को एकाग्र करके भक्ति-पूर्वक 'चण्डी - पाठ' करने अथवा उसके सुनने के समान अभीष्ट फल-दायक अन्य कोई स्वस्त्ययन नहीं है।**"

अपने इस महत्त्व एवं उपयोग के ही कारण गृहस्थों की दृष्टि में '**दुर्गा - सप्तशती**' - स्तोत्र को '**गीता**' की अपेक्षा कहीं अधिक आदर और सम्मान प्राप्त है। '**गीता**' में निष्काम-कर्म की ही श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। अतएव वह मुक्ति की कामना रखनेवाले संन्यासियों के ही लिए विशेष रूप से उपयोगी है।

गृहस्थ प्रायः सभी 'स-काम' होते हैं। कदाचित् ही ऐसा कोई गृहस्थ होगा, जिसके हृदय में किसी-न-किसी वस्तु की कामना न रहती हो। '**देवी - माहात्म्य**' या '**दुर्गा - सप्तशती**' में 'स-काम' और 'निष्काम' दोनों ही प्रकार के कर्मों का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए यह गृहस्थ और संन्यासी—सब प्रकार के लोगों के लिए आदर की वस्तु है।

(पृष्ठ ६ का शेष)

हो पूजा-गृह में अपने नित्य-कर्मों को कीजिए। अपने इष्ट-देवता का, अपने गुरु का तथा त्रिभुवन-जननी श्री त्रिपुर-सुन्दरी का चित्र अपने सामने रखिए। नित्य-कर्म कर चुकने के पश्चात् पूर्ण विश्वास और प्रेम के साथ 'आनन्द-लहरी' का आदि से अन्त तक पठन कीजिए। धूप या अगरबत्ती तथा घृत का एक दीपक भी अन्त तक प्रज्वलित रहना चाहिए। नारियल, मधु, दूध, फल आदि का नैवेद्य भी देवताओं को अर्पण करना चाहिए। अन्त में कर्पूर-आरती कर पूजा समाप्त करनी चाहिए।

यदि आप '**आनन्द-लहरी**' का सम्पूर्ण पाठ कर सकने में असमर्थ हों, तो कम - से - कम पाँच श्लोक या एक ही श्लोक का अध्ययन तो पूर्ण भक्ति और श्रद्धा के साथ नित्य अवश्य करना चाहिए। इससे आपके सब दुःख, चिन्ताएँ व बाधाएँ दूर होंगी। आपको उच्च-पद की प्राप्ति होगी तथा आप जीवन में सफलता प्राप्त कर अन्त में सायुज्य-मुक्ति प्राप्त करेंगे।

'देवी-माहात्म्य' में ही कहा गया है कि सुरथ नामक राजा जहाँ राज-गद्दी से उतार दिए जाने पर मारे-मारे फिर रहे थे, वहाँ उन्होंने 'स-काम' भाव से देवी की आराधना करके 'मन्वन्तर' का आधिपत्य प्राप्त कर लिया था। इसके विपरीत 'निष्काम-भाव' से देवी की आराधना करके समाधि नामक वैश्य 'मोक्ष'-साधक ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हुए थे।

प्रवृत्ति-मार्ग को लीजिए या निवृत्ति-मार्ग को ही ले लीजिए। अत्यन्त ही दुर्गम और विघ्न-संकुल होने के कारण दोनों ही पर चलने के लिए उपयुक्त 'शक्ति' अपेक्षित होती है। महा-शक्ति की आराधना के बिना उपयुक्त 'शक्ति' की प्राप्ति होती नहीं। यही कारण है कि—दुर्दान्त रावण के वध के निमित्त रामचन्द्र को 'शक्ति' प्राप्त हो, इस कामना से ब्रह्मा ने 'दुर्गा' ही की पूजा की थी। 'इन्द्र' भी 'दुर्गा-पूजा' करके ही स्वर्ग का राज्य प्राप्त करने में समर्थ हुए थे। श्रीकृष्ण को पति-रूप में प्राप्त करने के लिए व्रज की कुमारियों ने भी 'कात्यायनी-व्रत' किया था। पाण्डव लोग भी अज्ञात-वास में जाने से पूर्व पुरोहित धौम्य के उपदेश से श्रीदुर्गा जी की स्तुति करने में प्रवृत्त हुए थे।

ज्योतिर्मय 'परमेश्वर' की महा-ज्योति का अंश, जिस प्रकार न्यूनाधिक रूप में सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत्, नक्षत्र, अग्नि आदि में है, उसी प्रकार वह सभी प्राणियों में विद्यमान है। इसी प्रकार परमेश्वर की 'महा-शक्ति' का अंश भी—चराचर, चेतन, अचेतन, उद्भिद् आदि समस्त भूतों में अवस्थित है। तो भी साधना के द्वारा उसका उन्मीलन और उत्तेजन किए बिना वह शक्ति कार्य-सिद्धि के अनुकूल नहीं होती। अग्नि के स्फुलिङ्गों के द्वारा पाक-क्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती, ईन्धन आदि के प्रयोग से उन्हें उद्दीप्त करना होता है। दो अरणि-काष्ठों में अग्नि की सत्ता वर्तमान होने पर भी घर्षण के बिना उसकी उत्पत्ति नहीं होती। दूध में जो घी होता है, वह गौवों के शरीर में यद्यपि वर्तमान रहता है, तो भी उसके द्वारा उन गौवों की अङ्ग-पुष्टि नहीं होती। दूध दुह लेने के बाद अम्ल के संयोग से उसका दही जमाना होता है। बाद को उसे मथ कर नेनू निकालना होता है और उस नेनू को कड़ाही में डालकर खौलाने के बाद घी तैयार होता है। वह घी आवश्यकतानुसार गौवों के लिए भी औषधि-निर्माण के उपयोग में आता है।

इसी प्रकार परमेश्वर आत्मा और शक्ति के रूप में यद्यपि मनुष्य के शरीर में वर्तमान रहते हैं, तो भी उपासना के बिना, वे उनके लिए हितकर नहीं होते। इसलिए उपासना करना आवश्यक है। 'चण्डी' का पाठ करना या उसका श्रवण करना ही महा-शक्ति की सर्व-श्रेष्ठ उपासना है। चण्डी देवी ने अपने श्रीमुख से भी कहा है—"**मेरा यह माहात्म्य जहाँ पढ़ा या सुना जाता है, वहाँ मैं उपस्थित होती हूँ। सम्वत्सर-पर्यन्त दिन और रात्रि में—दो बार उत्तम पाद्य, अर्घ्य, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, विविध नैवेद्य, पशु-बलि, होम, तर्पण तथा ब्राह्मण-भोजन कराने से मुझे जिस प्रकार की तुष्टि होती है, केवल एक बार इस माहात्म्य का पाठ कर लेने या इसका श्रवण करने से उसी प्रकार का सन्तोष प्राप्त हुआ करता है।**"

नवीन **तान्त्रिक पंचांग**

(१६ अप्रैल, १९९१ से ६ नवम्बर १९९२ तक)

मूल्य ११-००) । आज ही अपनी प्रति कल्याण मन्दिर प्रकाशन, प्रयाग–६ से मँगावें ।

३२ भारतीयों की मनोदशा

[१]

भारत ने अपनी स्वतन्त्रता 'अहिंसात्मक युद्ध' करके प्राप्त की है। इस महा-युद्ध में उसने अनुपम विजय प्राप्त की है। इसी विजय के फल-स्वरूप विदेशी शासकों को अपना बोरिया-बाँधना बाँधकर चुपचाप यहाँ से खिसक जाना पड़ा। इस अभूतपूर्व सफलता से भारत के गौरव की वृद्धि हुई है, संसार में उसका आदर बढ़ गया है। उसका यह गौरव - वर्धन करने का श्रेय एक-मात्र उसके सपूत महात्मा गांधी को है, जो देश-वासियों की एक बिशाल सेना का निर्माण करके बिदेशी सरकार से, जब तक विजय नहीं प्राप्त कर ली, बराबर लड़ते रहे। उनका यह युद्ध पशुता का नहीं, किन्तु आर्य मानवता का युद्ध था। उन्होंने इसके द्वारा स्वदेश को पराधीनता से तो मुक्त किया ही, साथ ही अपनी तपो-मय अयाचित जीवन-चर्या तथा व्यवहार-कुशलता से यह भी प्रत्यक्ष कर दिखाया कि भारत की संस्कृति में कितनी अक्षय जीवनी-शक्ति है।

सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह और असहयोग जैसे सद् - गुणों को व्यापक रूप देकर अन्याय का उन्मूलन कर महात्मा गांधी ने न्याय को प्रतिष्ठित किया। यह सब उनका 'चमत्कार' भारतीयों ने अपनी आँखों से देखा और वे स्वाभिमान से मत्त हो उठे एवं उन्होंने प्रसन्नता से अनुभव किया कि उनकी यह संस्कृति कितनी अव्यर्थ है।

खेद के साथ कहना पड़ता है की भारतीयों की उक्त 'अनुभूति' पाश्चात्य सभ्यता की चका-चौंध एवं 'अंग्रेजी भाषा' की दासता के प्रभाव के आगे स्थिर नहीं रह सकी। 'स्वाभिमान' की अनुभूति का अस्तित्व आज कहाँ है? पाँच वर्षों के अन्त में ही वे अपने नेता का पढ़ाया हुआ सारा पाठ भूल गए! आज तो उनकी मनोदशा कुछ और ही रङ्ग ला रही है! औरों की हम नहीं कहते, हम स्वयं उनकी कहते हैं, जो अपने नेता के झण्डे के नीचे लगातार वर्षों तक समवेत रहकर स्वतन्त्रता के युद्ध में डटे रहे। जो उनके द्वारा निर्दिष्ट आदर्शों को अपनाने में एक दूसरे से होड़ करते थे, अपने नेता के वही सच्चे अनुयायी आज नए-नए गीत गाने को उतावले हो रहे हैं! उनकी मनोदशा में भारी परिवर्तन हो गया है।

यह सब हिन्दू चकित होकर देख रहा है। वह सोच ही नहीं पा रहा है कि उसकी स्वतंत्रता की इस स्थिति में उसका क्या कर्तव्य है। उसे आशा थी कि स्वाधीन भारत में उसका स्व-धर्म प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा, उसकी सभ्यता और उसकी संस्कृति के गौरव को वृद्धि होगी, परन्तु इसके विपरीत अब वह यह देख रहा है कि उसके स्वाधीन भारत में चारों ओर नाना प्रकार के वादों का जोर बढ़ रहा है!

कोई कहता है कि भारत मजदूरों और किसानों का देश है और उन्हीं का महत्त्व यहाँ स्थापित होगा; कोई कहता है कि 'वर्णाश्रम-धर्म' ने हमारे देश का विनाश कर डाला है और अब हम यहाँ श्रेणी-हीन समाज की स्थापना करेंगे; कोई कहता है कि सम्प्रदाय-वाद ही देश के पराभव का मूल कारण रहा है और अब हम इस महा-दानव का विनाश करके ही दम लगे!

इस प्रकार के नाना प्रकार के वादों के वादियों की घोषणाएँ सुनकर हिन्दू अपने मन में सोचता है कि यह सब क्या कहा जा रहा है ! इन घोषणाओं में उसको अपनी कोई बात नहीं दिखाई देती। घोषणा करनेवाले भी उसे अपने जैसे नहीं प्रतीत हो रहे हैं। वह अनुभव करता है कि यह सब विदेशी सभ्यता के प्रभाव से हो रहा है और उसके दश के नर-पुङ्गव अपनी सारी मौलिक बातों को हेय मानकर अपने देश को पाश्चात्य सभ्यता के रङ्ग से पोतने का उपक्रम कर रहे हैं ! स्वयं तो उसके रङ्ग में डूबे ही हुए हैं, देश को भी अपना ही जैसा बना डालने का यत्न कर रहे हैं !! वे इसी में देश का कल्याण मानते हैं।

कुशल इतनी ही है कि हिन्दुओं का बहु-संख्यक समाज उक्त अनुकरण - प्रियता को अपने और देश–दोनों के लिए घातक समझता है। अतएव वह अपने मन में प्रश्न करता है कि आज के ऐसे भारतीयों के बीच में उसका अपना स्थान कहाँ है ?

आज प्रायः प्रत्येक हिन्दू अपने मन में विचार करता है कि उसकी विशाल जाति ही तो विभिन्न श्रेणियों में विभक्त है; उसी की जाति में अनेक सम्प्रदाय सदियों से विद्यमान हैं और परस्पर शान्ति के साथ रह रहे हैं; उसी की जाति के लोग जहाँ मजदूर और किसान हैं, वहाँ उनमें व्यापारी, शिक्षक आदि-आदि बहु-संख्यक पेशों के भी बड़े-बड़े समुदाय हैं। फलतः उपर्युक्त वादियों की घोषणाएँ सुनकर यदि हिन्दू सशङ्क और भय-भीत हो उठे, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इसके साथ ही इस बात में भी कोई आश्चर्य नहीं, यदि भविष्य की आशङ्का से वह आत्म-रक्षा के लिए भी सावधान हो जाय क्योंकि उसकी जीवनी-शक्ति सदैव अक्षुण्ण रही है और इसी शक्ति के बल से आत्म - रक्षा करने में उसने आज तक बराबर सफलता प्राप्त की है। इसका प्रमाण उसके गौरव-पूर्ण भूत-काल के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा मिलता है।

इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दू की आज की मनोदशा ऐसी उत्साह-वर्धक नहीं है। वह वर्तमान विषम परिस्थितियों को देखकर विचलित और सन्त्रस्त हो सकता है, परन्तु वह 'स्व-धर्म' और अपनी 'संस्कृति' तथा 'सभ्यता' को भी छोड़ सकता है—यह बात गले के नीचे उतरने को नहीं।

बात यह है कि हिन्दू को अपने 'हिन्दूत्व' का सदैव अभिमान रहा है, वह उसी को लेकर जीता-मरता रहा है। अपने धर्म के प्रति उसका ऐसा ही अचल विश्वास रहा है और जब आज भारत की राजनैतिक पराधीनता के बन्धन कट चुके हैं और उसके परम पवित्र देश में उसका अपना राज्य स्थापित हो चुका है, तब वह आज के भ्रान्ति-वादी नकलचियों की निराधार घोषणाओं से कुछ काल के लिए भले ही आतङ्कित हो जाए, परन्तु बाद को उसकी अपनी ही होकर रहेगी क्योंकि भारत उसका देश है और वही इस पवित्र विशाल देश में सभ्यता के आदि - काल से अपनी 'संस्कृति' और 'सभ्यता' के साथ यहाँ निवास कर रहा है। वह अपने इस अधिकार को जानता है। जानता ही नहीं है, इसकी रक्षा करने में उसने अवसर आने पर भारी-से-भारी बलिदान भी किए हैं।

ऐसी दशा में समय - समय पर होनेवाली देश - व्यापी उथल-पुथल उसे मार्ग - भ्रष्ट नहीं कर सकती। उसके पास युग-युगान्त के अनुभवों की परम्पराएँ उसे स्फूर्ति प्रदान करती रहती हैं। उसने क्रान्तियाँ देखी हैं और उनको पार कर उसने अपनी पूर्व - स्थिति ज्यों-की-त्यों कर लेने में सदैव अपूर्व सफलता प्राप्त की है। तब आज के परिवर्तन-काल की क्रान्तियाँ उसका क्या बना-बिगाड़ सकती हैं !

हिन्दू-समाज का ऐसा ही विलक्षण अविचल आत्म-विश्वास है। यही इस बात का मूल कारण है कि वह सृष्टि के आदि-काल से अपने स्थान पर स्थित है और शान्ति के साथ अपने घर के एक कोने में बैठा हुआ पुरातन-कालीन ऋषियों के स्वर में स्वर मिलाकर—

"ॐ अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य, देवमृत्विजम् होतारं रत्न-धातमम् ।"

—गाया करता है।

दूसरे तो कहते ही हैं, स्वयं हिन्दू के अपने लोग उसे रूढ़ि - वादी, पुराण-पन्थी, प्रगति-विरोधी आदि विशेषणों का प्रयोग कर उसका उपहास किया करते हैं, परन्तु वह इस प्रकार के तिरस्कार-सूचक अप-शब्दों से हत-प्रभ नहीं होता। इसके विपरीत वह प्रोत्साहित होता है; वह अनुभव करता है कि वह सु-पथ पर ही आरूढ़ है और मार्ग-भ्रष्ट नहीं है। सचमुच यही वह विश्वास है, जिसने हिन्दू को अब तक युग-युगान्तर के बाद भी जीवित रक्खा है।

परन्तु आश्चर्य है, उन्हीं हिन्दुओं में कुछ लोग वर्तमान क्रान्ति के बवण्डरों को देखकर भय-भीत हो रहे हैं! बात यह है कि हिन्दू 'अधिकार-भेद' को बात को जानता-मानता आया है। उसने एक ही माप-दण्ड से सबको नहीं तौला है। ऐसा करना उसने सदैव अन्याय माना है, परन्तु आज वह देख रहा है कि स्वयं उसकी पवित्र मातृ-भूमि में एक ही माप-दण्ड से सबके तौलने की व्यवस्था जारी करने का उपक्रम हो रहा है!

इस परिस्थिति को यदि हिन्दू आशङ्का की दृष्टि से देखे, तो यह बात उसके लिए सर्वथा स्वाभाविक ही होगी। उसने सुना भी है और देखा भी है कि लोगों ने समानता, भ्रातृत्व और स्वतन्त्रता के उच्च सिद्धान्तों को व्यापक रूप देने के नाम पर संसार में खून की नदियाँ बहाई हैं और उन्हें सफलता मिली, तो केवल इतनी ही कि उनकी प्रभुता अवश्य स्थापित हो गई और उनके न रह जाने पर बाद को वही 'ढाक के तोन पात' पहले की तरह फिर हिलते-डुलते दिखाई देने लगे!

हिन्दू जानता है कि 'प्रकृति' की गति निराली है। उसके प्रतिकूल जो चलेगा, वह धरा-शायी ही होगा। प्रकृति ने ही इस विश्व में अधिकार-भेद की व्यवस्था का प्रचलन किया है। इस प्राचीन परम्परा का कटु अनुभव उसने बार-बार किया है। इसी कारण वह अपनी राह ही आना-जाना श्रेयस्कर समझता है। साथ ही किसी के मार्ग में आड़े भो नहीं आता और न यही चाहता है कि कोई उसके मार्ग में आड़े आए, परन्तु आज वह देख रहा है कि उसके मार्ग में अकारण ही लोग हस्त - क्षेप करने को उतावले हो रहे हैं। इससे वह विकल हो उठा है। उसकी मनोदशा स्थिर नहीं है, वह चिन्तित है क्योंकि उसके जीवन का ध्येय सदैव शान्ति की प्राप्ति ही रहा है।

हिन्दू स्वभाव से ही शान्त और सहिष्णु है, परन्तु आज की परिस्थिति उसे बता रही है कि भविष्य भयावह है, क्योंकि यहाँ भी एक ही माप-दण्ड से सबके मापने का उपक्रम किया जा रहा है। ऐसी दशा में उसकी सामाजिक, आर्थिक एवं उसकी सबसे अधिक प्रिय धार्मिक स्थिति में भारी उलट-फेर होने की सम्भावना से उसकी मनोदशा विक्षुब्ध हो उठी है, परन्तु इतने पर भी वह शान्त है और अपने गन्तव्य मार्ग पर चुपचाप चला जा रहा है--इस विश्वास से कि सदा की भाँति इन आसुरी लीलाओं का अपने आप ही अवसान हो जायगा।

इसी से स्व-धर्मावलम्बी हिन्दू निशा-काल में अपने आराध्य देव का यथा-विधि पूजन करने के बाद शान्त-चित्त होकर गा उठता है—

सर्वे ते सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः !
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख-भाग् भवेत् ।।

[२]

भारत को स्वतन्त्रता बिना खून बहाए मिली है, परन्तु जब वह मिली, तब उसके लिए उसे बहुत भारी मूल्य देना पड़ा। उसके दो प्रान्त उससे सदा के लिए अलग हो गए ! इस प्रकार अपना अङ्ग-भङ्ग करवाने पर ही उसे यह स्वतन्त्रता मिली है। यही नहीं, उन दोनों प्रान्तों के बहु-संख्यक हिन्दुओं को भी अपने यहाँ बसाने को उसे बाध्य होना पड़ा। इस प्रकार उसे यह मूल्यवान् स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है !

ऐसे स्वतन्त्र भारत में उसकी अपनी जो सरकार स्थापित हुई है, उसने शासन-भार ग्रहण करते ही यह घोषणा कर दी है कि उसका किसी धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। उसका केवल राजनीति, समाज-नीति आदि-आदि नीतियों ही से सम्बन्ध रहेगा। वह अपना शासन केवल इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर करेगी। किसी के धर्म में वह हस्तक्षेप नहीं करेगी। इसमें सन्देह नहीं कि उसकी यह नीति सर्वथा उपयुक्त है और इसके लिए उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, वह थोड़ी ही होगी, परन्तु एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है और वह यह है कि इस नीति के फल-स्वरूप हिन्दू बुरी तरह से घाटे में पड़ गए हैं।

स्वतन्त्र भारत में विशाल जन-संख्या केवल हिन्दुओं की ही है और ये हिन्दू अपने धर्म के नियमों के कारण किसी को हिन्दू नहीं बना सकते। उनके इसी सिद्धान्त के फल-स्वरूप अन्य धर्म-वालों को अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने का सदैव अवसर मिला है और आज भी मिल रहा है, परन्तु स्वतन्त्र भारत की स्वदेशी सरकार अपनी धर्म-सम्बन्धी निरपेक्षता-नीति के कारण इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकती।

हिन्दुओं की रक्षा के लिए स्वतन्त्र भारत की सरकार ऐसा कोई नियम नहीं बना सकती कि किसी हिन्दू का धर्म-परिवर्तन न किया जाय। यदि वह ऐसा करने का निश्चय करे, तो उसकी ईमानदारी पर बट्टा लग सकता है, वह पक्ष - पातिनी ठहराई जा सकती है। अतः देश की सरकार से हिन्दुओं को इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की सहायता की आशा करना अपने को धोखा देने के तुल्य है।

अब रहे हिन्दू, तो उनकी विचित्र दशा है। सदियों से उनके विशाल समुदाय की नोच-खसोट होती चली आ रही है। वे इस सम्बन्ध में अपनी रक्षा कभी भी नहीं कर सके। अब जब उनका देश स्वतन्त्र हुआ, तब उन्हें कुछ आशा हुई थी कि देश की सरकार इस सम्बन्ध में उनकी रक्षा की कोई व्यवस्था अवश्य करेगी, परन्तु जब सरकार ने अपनी धर्म-निरपेक्षता की घोषणा कर दी, तब उसकी वह आशा भी जाती रही। फलतः आज वह किंकर्तव्य-विमूढ़ हो रहा है।

कितनी विडम्बना की बात है कि हिन्दू सोच ही नहीं पा रहा है कि आज जब उसका देश स्वतन्त्र है और वह अपने देश का एक स्वतन्त्र नागरिक है, तब वह इस 'धर्म-परिवर्तन' के मामले में अपनी रक्षा करने में अपने को असमर्थ क्यों पा रहा है ! वह जब किसी अन्य धर्म के अनुयायियों को

अपनी संख्या बढ़ाने के विचार से उन्हें हिन्दू बना लेने का प्रयत्न नहीं करता, तब दूसरे लोग उसके समाज के लोगों को अपने धर्मों के अनुयायी क्यों बनाते चले जा रहे हैं ?

हिन्दू के आगे तो उक्त एक विकट प्रश्न है ही, देश की सरकार के आगे भी कम भयावह नहीं है क्योंकि एक दिन वह दिन अवश्य आएगा, जब इस स्वतन्त्र देश में हिन्दू - जाति का नाम-शेष ही हो जाएगा। अतएव देश की सरकार की 'धर्म-निरपेक्षता' की नीति से विशाल हिन्दू-जाति का भविष्य अन्धकार-मय दिखाई दे रहा है। ऐसा नहीं है कि हिन्दू अपने ऐसे भविष्य की बात से अवगत न हो। वह सब जानता है। यदि जानता नहीं है, तो यही नहीं जानता कि वह इस आनेवाले सङ्कट से अपनी रक्षा कैसे करे !

उसके अपनी जाति के जो तेजस्वी लोग हैं, वे प्रायः सबके सब 'धर्म' के नाम से चिढ़ते हैं। उनका यदि कोई 'धर्म' है, तो वह मात्र राजनीति है। हिन्दू-समाज के भीतर इस नए धर्म के अनुयायियों ने अपना एक अलग ही सङ्गठन बना लिया है, उनकी एक अलग बिरादरी ही कायम हो गई है--ऐसी बिरादरी, जो शेष हिन्दू-समाज को घृणा और तिरस्कार से देखती है और चाहती है कि जितना ही जल्दी इसका '**वर्णाश्रम-धर्म**' विनष्ट हो जाय, उतना ही वह देश के लिए हितकर बात होगी।

यह है मनोदशा हिन्दू-समाज के उन नर - रत्नों की, जिनके अथक प्रयत्नों से स्वदेश की पराधीनता की बेड़ियाँ कटी हैं और जो आज देश का पूर्ण व्यवस्था के साथ शासन-सञ्चालन कर रहे हैं ! असमर्थ हिन्दू चुपचाप अपने इन्हीं महानों का, अपनी रक्षा के लिए, मुँह जोहता रहता है। वह इनकी धर्म तथा समाज-विरोधी घोषणाओं को सुनकर भी इस आशा से उपेक्षा करता है कि ये अपने ही लोग हैं, किसी-न-किसी दिन जब इन्हें चेत होगा, तब ये अवश्य हमारी रक्षा करेंगे। उसकी इस मनोदशा से प्रकट होता है कि आज का हिन्दू कितना निर्बल है और कितना स्वार्थी है !

यह सब होते हुए भी हिन्दू में अपनी परम्पराओं के प्रति जो दृढ़ निष्ठा है, वही एक ऐसी बात है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह अपनी जीवनी-शक्ति ज्यों-की-त्यों बनाए हुए है, और उसकी यही शक्ति उसे भविष्य में भी सजीव किए रहेगी। यह बात निर्भ्रान्त होकर कही जा सकती है।

हिन्दुओं में उनके अपने ऐसे भी कुछ लोग हैं, जो उसके धर्म, उसके विश्वासों, उसकी परम्पराओं आदि पर दृढ़ आस्था रखते हैं, वे उसकी इस जीवनी - शक्ति को जानते हैं। इसी से वे आए दिन उसे सावधान करते रहते हैं, उसे प्रबुद्ध करने को बराबर यत्न-शील रहते हैं, परन्तु वह अपने इन लोगों की ओर ध्यान तक नहीं देता, वह इन्हें भी अपना जैसा ही शक्ति-हीन समझता है। हिन्दू की आज यह कैसी मनोदशा है !

स्वतन्त्र भारत का 'हिन्दू' आज जब अपने चारों ओर अपनी निगाह डालता है, तो वह चकित और हैरान हो उठता है। वह वर्तमान विचार - क्रान्ति के व्यापक बवण्डरों को अपने चारों ओर उमड़ते हुए देख कर एक क्षण के लिए भय-भीत होकर सोचने लगता है कि भारत की इस लोकोत्तर भूमि पर यह क्या हो रहा है ! जिधर ही वह देखता है, उधर ही राजनैतिक या सामाजिक या आर्थिक नीतियों के कारण होनेवाली ध्वंस-लीला को देखकर उसका मन विचलित हो उठता है। वह विचार करने लगता है कि पाश्चात्य देशों के आदर्शों को ग्रहण कर हमारे देश के नेता तथा प्रगति-शील संस्थाएँ स्वदेश को रसातल पहुँचाने का यह उपक्रम क्यों कर रहो हैं ?

क्या भारत की सभ्यता या संस्कृति आज यहाँ तक गिर गई है कि उसके आदर्शों से हम अपनी तथा स्वदेश की उन्नति नहीं कर सकते ? भारत को उसकी स्वतन्त्रता दिलानेवाले महात्मा गांधी का **'स्वदेशी-प्रेम'** आज के हमारे लोक - नेताओं को क्यों रुचिकर नहीं हो रहा है ? उनके जीवन-काल में हमारे यही नेता उनके 'स्वदेशी' - सम्बन्धी आदर्शों और सिद्धान्तों के पालन करने की आए दिन शपथ-पर-शपथ लिया करते थे, परन्तु उनके दिवङ्गत होते ही आज वे अपनी सारी प्रतिज्ञाएँ भूल-सा गए हैं और देश के सारे अधिवासियों को एक ही लाठी से हाँक कर जल्दी-से-जल्दी पाश्चात्य आदर्शों पर ढाल कर उन्हें एक राष्ट्र के रूप में बदल देना चाहते हैं !

पाश्चात्य सभ्यता ने विश्व में जो गजब ढाया है; जो भयावह परिस्थिति उसने उत्पन्न कर दी है—ऐसा नहीं कि वे इस बात से अवगत न हों, परन्तु यह होते हुए भी वे उसके मोहक रूप के वशीभूत हैं, इसी से वे स्वदेश में भी पाश्चात्य आदर्शों को अपनाने का आग्रह कर रहे हैं !

इधर 'हिन्दू' अपनी सभ्यता के आदर्शों को छोड़ना नहीं चाहता । वह अब तक उन्हीं के लिए जीता और मरता रहा है और उसका यह सङ्घर्ष-क्रम युगों पहले से उसके अस्तित्व को अब तक स्थायी बनाए हुए है । उसने बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ देखी हैं । उसने अपने अधिकांश लोगों को उनका आखेट होते देखा है, परन्तु इतने पर भी वह अपनी संस्कृति के आदर्शों से बराबर ही चिपका रहा ।

ऐसी दशा में आज की यह विचार-क्रान्ति 'हिन्दू' को कदापि अपने गन्तव्य मार्ग से विमुख नहीं कर सकती । यह सच है कि ऐसी मनोदशा रखनेवालों की संख्या उसके बीच में अत्यधिक नहीं है, परन्तु जो कुछ भी है, वह सबल और सुदृढ़ है । उसे अपने आदर्शों का विश्वास है, वह भविष्य की आशा की सुनहारी किरणों को क्षितिज पर सदैव दमकता हुआ देखता रहता है । वह जानता है कि प्रकाश के बाद अन्धकार आता है और अन्धकार के बाद फिर प्रकाश का उदय होता है । प्रकृति के इस नियम का उसे ज्ञान है और यही ज्ञान उसे सदियों से अब तक अमर बनाए हुए है ।

अतएव 'हिन्दू' आज की जैसी क्रान्तियों को उपेक्षा की दृष्टि से ही देखता है । ईश्वर के प्रति उसका असीम विश्वास है, जो उसे अपने गन्तव्य मार्ग पर बराबर अग्रसर किए रहता है । हिन्दू की यह मनोदशा यद्यपि इस समय परिमित क्षेत्र में ही अपने कर्त्तव्य-पालन में कार्य-व्यस्त दिखाई देती है, तथापि यह बात दृढ़ता से कही जा सकती है कि भविष्य में इस पवित्र भूमि के आदर्शों और परम्पराओं को देश-व्यापी बनाने के लिए यह पथ-प्रदर्शन का काम करेगी । तथास्तु ।

३३ हमारा अधः-पतन !

भारत के विशाल प्राचीन साहित्य में 'श्रुति' का अपना विशेष महत्त्व-पूर्ण स्थान सदैव रहा है । उसी के अनुशासन के अनुसार यहाँ के समाज का सङ्गठन हुआ था और उस सङ्गठित समाज ने उसके उसी अनुशासन के फल-स्वरूप जिस सभ्यता और संस्कृति को जन्म दिया था, वे यहाँ युग-युगान्त से फलती-फूलती ही नहीं चली आई हैं, किन्तु अमर-बेलि बनकर वे यहाँ अद्यावधि विद्यमान हैं और विशाल हिन्दू-जाति को प्रगति के मार्ग पर अनुप्राणित करती रहती हैं ।

कितनों ही की दृष्टि में यह स्थिति आश्चर्य - जनक हो सकती है, परन्तु जो सत्यान्वेषी हैं, वे वास्तविकता को जानते हैं और उन्हें तनिक भी आश्चर्य नहीं होता । उन्हें 'श्रुति' की नित्यता का ज्ञान है । वे जानते हैं कि 'श्रुति', विश्वेश्वर की देन है—वह और उसका प्रभाव शाश्वत है ।

'अधिकार - भेद' के फल - स्वरूप जब 'श्रुति' के एक अंश का उपयोग बन्द हो जाता है, तब उसके दूसरे अंश का उपयोग होने लगता है। इस तथ्य का बोध ही उन्हें अचल विश्वास प्रदान करता है। इसी से वे आश्चर्य में नहीं पड़ते।

काल के प्रभाव से जब 'वैदिक श्रुति' के आचार - विचार को धारण करने के योग्य यहाँ का समाज नहीं रहा, तब उसने तत्सम्बन्धी अपना अधिकार गवाँ दिया। इस परिस्थिति में धर्म की रक्षा के लिए 'तान्त्रिक श्रुति' आगे आ गई और अपने - अपने अधिकारानुसार लोगों ने उसका स्वागत किया।

और-तो-और, जिन 'श्रुति'-विरोधी सङ्गठनों ने यहाँ बड़ी उथल-पुथल मचाकर अपने व्यापक प्रचार द्वारा 'वैदिक श्रुति' को हत-प्रभ करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की थी, उन्हें भी 'तान्त्रिक श्रुति' की उपयोगिता के आगे नत-मस्तक होना पड़ा था। यही नहीं, उसके अनुशासन को ग्रहण कर अपने को जीवित रखने के लिए उन्हें स्वयं 'तान्त्रिक' बनने को बाध्य होना पड़ा था! जानकार जानते हैं कि आज का उनका अस्तित्व एक-मात्र उनके 'तान्त्रिक श्रुति' के मूल सिद्धान्तों के आत्म-सात् कर लेने के कारण ही बना हुआ है।

अब रहे स्वयं 'हिन्दू-धर्म' के विभिन्न समयों में होनेवाले तेजस्वी धर्म-सुधारकों के सम्प्रदाय और मत-मतान्तर, तो इनमें एक भी ऐसा नहीं है, जिसका सुदृढ़ आधार 'तान्त्रिक श्रुति' न हो। इन सभी धर्म-सुधारकों में श्रीमदाद्य जगद्-गुरु शङ्कराचार्य जी का अपना एक विशिष्ट स्थान है। उनकी दार्शनिक विचार-धारा का लोहा संसार के सभी देशों की विद्वन् - मण्डलियों में आज भी माना जाता है, परन्तु उन तक को 'तान्त्रिक श्रुति' के आगे सिर झुकाना पड़ा था और आज तो हम उनके विशाल सम्प्रदाय के विभिन्न मठों और उनके अनुयायियों में 'तान्त्रिक श्रुति' की ही प्रधानता पाते हैं।

श्रीमदाद्य शङ्कराचार्य जी के दार्शनिक सम्प्रदाय के आचार्य लोग जनता में निस्सन्देह 'ब्रह्म-विद्या' का उपदेश करते रहते हैं, परन्तु उनकी अपनी साधना एक - मात्र 'तान्त्रिक' ही होती है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण इस सम्प्रदाय द्वारा प्रचारित तान्त्रिक **'समय-मत'** है। इनके इस **'समय-मत'** का मूलाधार 'तान्त्रिक श्रुति' ही है। देश-काल के अनुसार, 'तान्त्रिक श्रुति' की कुछ गौण बातों को काट-छाँट कर, अनुकल्पों का सहारा लेकर, उसे ज्यों-का-त्यों ही उसमें स्वीकार किया गया है।

'तान्त्रिक श्रुति' की आज ऐसी ही देश-व्यापी महत्ता है, परन्तु दुःख की बात है कि लोग इस सत्य के मानने को तैयार नहीं हैं! मूलतः हैं सभी 'तान्त्रिक श्रुति' के अनुयायी, परन्तु मिथ्या अभिमान के कारण वे उसके ऋणी होने से अस्वीकार करते हैं, और इस प्रकार अपने स्वाभिमान की रक्षा करने में गौरव का अनुभव करते हैं!

यह हाल केवल श्री शङ्कराचार्य के अनुयायियों का ही नहीं है। 'हिन्दू-धर्म' के प्रायः सभी सम्प्रदायों और धर्माचार्यों की यही नीति है। एक ओर वे 'तान्त्रिक श्रुति' को अपना कर अपने अस्तित्व को गौरव देते रहते हैं और दूसरी ओर 'तान्त्रिक श्रुति' की निन्दा करना अपना प्रथम कर्तव्य मानते हैं!

इस प्रकार आए दिन भीषण रूप से सत्य की उपेक्षा होती रहती है। आज की 'धर्म-ग्लानि' हमारे ऐसे ही चारित्रिक दौर्बल्य का परिणाम है। यदि हम शीघ्र ही अपने चरित्र की इस दुर्बलता से

अपना पिण्ड नहीं छुड़ाएँगे, अपना महत्त्व बनाए रखने के लिए सत्य का बराबर अपलाप ही करते रहेंगे, तो वह दिन दूर नहीं, जब हम कहीं के नहीं रहेंगे। यहाँ तक कि हमारा अस्तित्व ही मिट जायगा।

यह श्रुति का ही वचन है--**'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्'**, परन्तु हम आज श्रुति का आदर कहाँ करते हैं! हम उसकी कहाँ पूजा करते हैं! हम तो उसको भूलकर मनुष्य की पूजा कर रहे हैं!! उसके आगे ईश्वर तक को हमने भुला दिया है! यह हमारा कैसा अधः-पतन है!!

३४ यह कैसा खेल!

हिन्दू-धर्म बहु-देव-वादी धर्म है। मनुष्य-लोक की तरह वह देव-लोक का होना भी स्वीकार करता है। इसी से हिन्दू समय और सुविधा के अनुसार अधिक-से-अधिक देवताओं की पूजा भी किया करते हैं। उनमें से किसी को अपना इष्ट-देवता मानकर उसके यजन-पूजन में नियम-पूर्वक निरत रहकर परमार्थ की सिद्धि को प्राप्त करने का भी वे प्रयत्न करते रहते हैं और यह सब उनकी अध्यात्म-साधना या तो कुल-धर्मानुसार होती है या फिर जिसका जैसा संस्कार होता है, उसी के अनुसार अध्यात्म-साधना के लिए उसे इष्ट-देवता प्राप्त हो जाता है।

हिन्दू-समाज में आध्यात्मिक भावना की पहले बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति थी। उस समय इसके लिए न तो प्रचार ही होता था, न सामयिक साहित्य को रचना ही की जाती थी। तब के युग आध्यात्मिक भावना के लिए बहुत ही अनुकूल थे, परन्तु इधर 'कलि-युग' के प्रबल पड़ने पर वह बात नहीं रह गई है। न अब अधिकारी की जाँच-पड़ताल की जाती है, न उपयुक्तता की ही!

अब तो संख्या-वृद्धि करने के सिद्धान्त का ही बोल-बाला दिखाई देता है! अब के धर्माचार्य इसी बात के प्रयत्न में लगे रहते हैं कि उनके अनुयायियों की संख्या कहीं-से-कहीं जा पहुँचे। उन्हें यह देखने और विचार करने का अवसर ही नहीं रहता कि जिन्हें वे अपने शिष्य बनाते चले जा रहे हैं, वे साधना के क्षेत्र में कुछ प्रगति कर रहे हैं या नहीं!

उक्त संख्या-वृद्धि के सिद्धान्त के पीछे धर्मान्ध लोग अपनी सात्त्विक भावना को यहाँ तक खो बैठे हैं कि उसके लिए वे सब कुछ कर सकते हैं। अपने धर्म, सम्प्रदाय या मत को छोड़कर अन्य सभी की निन्दा करना–यहाँ तक कि झूठी निन्दा करना उनका प्रतिदिन का कार्य हो गया है!

यही नहीं, वेद से लेकर इतिहास-ग्रन्थों तक में जो वचन उनके सम्प्रदाय या मत के विरुद्ध लिखे मिलते हैं, उनका अर्थ तक बदल देने का वे उपहासास्पद प्रयत्न करते हैं और जिनका अर्थ बदलने में वे अपने को असमर्थ पाते हैं, उनके सम्बन्ध में यह कह कर अपना पीछा छुड़ाते हैं कि **'ये सब वचन प्रक्षिप्त हैं, विरोधियों ने स्वयं बना कर मिला दिए हैं!'** इसके अतिरिक्त उन्होंने एक नई तरकीब निकाली है। वह है आर्ष ग्रन्थों के ऐसे संस्करण निकालना, जिनमें विरोधी वचन छापे ही न जाएँ!

यह सब अनाचार धन के बल से इस समय देश में व्यापक रूप से किया जा रहा है। इस कुत्सित व्यापार से किसी सम्प्रदाय या मत-मतान्तर की कहाँ तक अभिवृद्धि होगी, यह तो दैव ही जाने, पर यह स्पष्ट ही है कि इससे अधर्म की ही सृष्टि होगी तथा समाज में कलह की वृद्धि होगी।

हिन्दू-समाज के धर्माचार्यों में असहिष्णुता का भाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है, जो उनके धार्मिक होने का चिह्न नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि वे 'बहु-देव-वाद' के सिद्धान्त को नहीं मानते। यदि ऐसा न होता, तो शैव वैष्णवों को और वैष्णव शैवों को अभिशप्त करते हुए न पाए जाते। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि विशाल हिन्दू - समाज में उसके भिन्न - भिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों में ऐसा ही व्यापक कलह विद्यमान है, जिससे वह निस्तेज और निर्जीव हो गया है।

ऐसा नहीं है कि हिन्दू-धर्म के उक्त धर्माचार्यों को इस दारुण परिस्थिति का ज्ञान न हो, परन्तु पक्ष-पात ने उन्हें अन्धा बना दिया है। अपने अज्ञान के वश-वर्ती होकर वे असम्भव को सम्भव करने को तुले हुए हैं। वे स्वयं तो जीवित रहना चाहते हैं, साथ हो यह चाहते हैं कि दूसरे या तो विनष्ट हो जायँ और यदि विनष्ट होने से बच निकलें, तो बदनाम होकर ही रहें!

यह सब खेल खेला जा रहा है 'स्व-धर्म' की अभिवृद्धि के लिए और इस खेल के खिलाड़ी हैं हमारे वही धर्माचार्य, जिन्हें हिन्दू मात्र आदर की दृष्टि से देखता ही नहीं है, किन्तु बड़ी भक्ति के साथ उनकी पूजा भी करता है। वह उन्हें धर्माचार्य समझता है, धर्मावतार मानता है, उनकी विद्या, बुद्धि और उनके धर्माचरण के कारण उन्हें सारी जाति का भूषण मानता है। वह इस बात की परवाह नहीं करता कि वे उसके कुलाचार तथा शास्त्राचार के पक्ष में कहते हैं या प्रतिकूल!

हिन्दू-समाज का एक बहुत बड़ा अंश ऐसा ही धर्म-भीरु, सहिष्णु और श्रद्धालु है। यही भाग वास्तव में हिन्दू-जाति की रीढ़ का काम दे रहा है। अन्यथा अपने ही धुरीणों और महत्त्वाकांक्षियों की स्वेच्छाचारिता के फलस्वरूप वह न मालूम कब विनष्ट हो गई होती, परन्तु उसकी यह वज्र-वत् रीढ़ अनन्त काल तक तो ज्यों-को त्यों बनी नहीं रह सकती। उसको सुदृढ़ और सबल बनाए रखने की भी आवश्यकता है।

दुःख की बात है कि इस आवश्यकता के अनुभव करनेवालों का अभाव है। हिन्दू-जाति के उस परम ईश्वर-विश्वासी विशाल भाग को उसका **'कुल-धर्म'** तथा **'शास्त्र-धर्म'** बतलानेवाला कोई नहीं है! ऐसी दशा में उसके संस्कार—उसकी संस्कृति उसे अपने पूर्वजों की परम्पराओं के अनुसार जीवन-यापन करने में कब तक अविचल बनाए रह सकती है? हम तो देखते हैं कि हिन्दू - जाति को चारों ओर से ऐसे लोग—अपने और पराए भी, घेरे हुए हैं, जो उसी के माल से दिन-प्रतिदिन मालामाल होते जा रहे हैं! इनका यह कितना भीषण व्यापार है! हिन्दू-जाति का यह कैसा भयानक ह्रास हो रहा है! ऐसी दारुण परिस्थिति से उसकी रक्षा यदि कोई कर सकता है, तो विश्वेश्वर के सिवा और कोई नहीं कर सकता!! तथास्तु।

३५ हित की बात

शास्त्र-द्वारा निर्दिष्ट विधि के अनुसार साधना करने से ही 'सिद्धि' मिलती है, अन्यथा नहीं—यह ध्रुव सत्य है, परन्तु शास्त्र-विधि का अक्षर-अक्षर पालन करना अत्यन्त कठिन है। यही कारण है कि सहस्रों साधकों में से कोई विरला ही सिद्धि प्राप्त करने में समर्थ होता है और जो सौभाग्य - वश प्राप्त कर लेता है, उसके लिए उससे मिली हुई शक्ति का पाचन करना टेढ़ी खीर हो जाता है।

यह तथ्य सब लोग जानते हैं, तो भी बहुत से लोग 'सिद्धि' की कामना से साधना - निरत होते दिखाई देते हैं। कुछ तो महत्त्वाकांक्षा की प्रेरणा से; कुछ केवल लोलुपता के वश, तो कुछ जीवन की असफलताओं से विक्षुब्ध होकर, तो कुछ नाना प्रकार के दुःखों, क्लेशों तथा अभावों से पीड़ित होकर जगन्नियन्ता के द्वार पर धरना देने को बाध्य होते ही हैं। इसी के लिए उन्हें साधना की विधि की खोज करनी पड़ती है, परन्तु इनमें से क्वचित् को ही उसकी विधि प्राप्त होती है। अधिकांश अँधेरे में टटोलते ही पाए जाते हैं!

प्रश्न यह है कि इस प्रकार अँधेरे में टटोलनेवाले साधकों की चोख-पुकार की कोई सुनवाई होती भी है, या वह अरण्य-रोदन की भाँति हवा ही हो जाती है! नहीं, ऐसा नहीं होता। प्रभु के द्वार पर की गई चीख-पुकार कभी व्यर्थ नहीं जाती।

आज नहीं कल। इस जन्म में नहीं, तो दूसरे जन्म में वह अवश्य ही फलद होती है। जितनी ही वह सच्ची होगी, उतना ही अधिक उसका प्रभाव पड़ेगा अर्थात् उतनी ही जल्दी वह सुनी जायगी। खरे सोने तथा सोने के मुलम्मे जैसा ही इस सम्बन्ध में भी समझिए। यही कारण है विधि के महत्त्व का।

'विधि' की उपयोगिता तो हम आए दिन अपने जीवन में देखते ही रहते हैं। जो काम विधि-पूर्वक किया जाता है, वह ठीक उतरता है, परन्तु जहाँ विधि में कुछ गड़बड़ हो जाता है, वहाँ काम भी बिगड़ जाता है। इस बात को इस तरह समझिए—

गणित को लीजिए। यदि हम गणित के प्रश्न विधि के अनुसार हल करते हैं, तो उत्तर ठीक निकलता है, साथ ही जल्दी भी, परन्तु जहाँ उसके हल करने में कोई त्रुटि हो जाती है, वहाँ उसका ठीक उत्तर नहीं आता और समय की भी बरबादी होती है।

इस प्रकार हम 'विधि' की उपयोगिता का अनुभव अपने जीवन की स्थूल बातों में करते ही रहते हैं। तब अध्यात्म जैसे अगोचर तथा सूक्ष्म विषय की अनुभूति के लिए किसी - न - किसी विधि का आश्रय लेना सर्वथा अनिवार्य समझना चाहिए।

दुःख के साथ कहना पड़ता है कि अध्यातम-मार्ग में चलनेवालों के द्वारा 'विधि' की बुरी तरह से उपेक्षा की जाती है। अपने को विज्ञ समझनेवाले लोग तो उसकी नितान्त उपेक्षा ही करते हैं। यदि वे विधि' को मान्यता देने लगें, तो उनकी विज्ञता में बट्टा लग जायगा न! उनकी सूझ-बूझ कुछ ऐसी ही होती है।

दूसरी ओर जो लोग अपने को विज्ञ नहीं समझते, सभी बातों को तर्क की कसौटी पर कसने के आदी नहीं होते और जो आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करना कल्याणकारी समझते हैं, उन्हें आध्यात्मिक गुरुओं की पाठशाला में नाम लिखाना ही पड़ता है और उस विषय को उसके 'क, ख, ग, घ' से अभ्यास करना पडता है। 'विधि' के ऐसे अभ्यासी ही 'साधक' कहलाते हैं, जो 'साधना' के पूर्ण होने पर 'सिद्ध' हो जाते हैं।

आज तो देश में विज्ञों का बाहुल्य हो गया है! कोई भी ऐसा नहीं मिलता, जो अपने को 'ब्रह्म-विद्' न बताता हो!! ये सब लोग 'ब्रह्म-विद्' कैसे हो गए, कहाँ से हो गए, इसका जानना बहुत कठिन है। इन 'ब्रह्म-विदों' की भारी भीड़ को देखकर कोई भी अनायास ही कह सकता है कि 'ब्रह्म-विद्या' कोई कठिन विद्या नहीं है, उसको सीख लेना बहुत सरल काम है!

हम आए दिन देखते हैं कि लोग इस प्रकार बड़ी प्रसन्नता से धोखे के गड्ढे में चले जा रहे हैं ! असल बात यह है कि युवा अथवा प्रौढ़ हो जाने पर कदाचित् ही कोई किसी विषय का अध्ययन करने के लिए पहली कक्षा से भरती होने के लिए तैयार हो । मिथ्याभिमान उसे ऐसा कदापि नहीं करने देता । यही कारण है कि लोग आजकल पोथियाँ पढ़कर 'ब्रह्म-ज्ञानी' बड़ी सरलता से बन जाते हैं, परन्तु उनका वह 'ब्रह्म-ज्ञान' जिस कोटि का होता है, उसका पता उनके दैनिक जीवन से आप-ही-आप हो जाता है । उसकी जाँच-पड़ताल करने के लिए अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता ।

इस समय 'अध्यात्म'-विषय की सारे देश में ऐसी ही परिस्थिति है । शास्त्रीय ढङ्ग से उसकी शिक्षा की न तो कोई व्यवस्था ही है और न कोई उस विधि से उसे सीखने को उत्सुक ही दिखाई देता है ! ऐसी परिस्थिति का यह परिणाम हुआ है कि जिधर देखो, उधर ही 'अध्यात्म'-विषय की छीछालेदर हो रही है ।

और-तो-और, जो विज्ञ हैं, 'अध्यात्म'-विषय के रहस्य के जानने का दम भरते हैं, दूसरों को अधिकार-पूर्वक उसका उपदेश करते रहते हैं; वे जब कसौटी पर कसे जाते हैं, तब उनमें से कोई ही खरा निकलता है ।

ऐसी विषम परिस्थिति में लोक-कल्याण की दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक है कि विधि का महत्त्व स्थापित किया जाय, स्वेच्छाचारिता की बाढ़ रोकी जाय । प्रश्न यह है कि यह कैसे हो ?

उक्त प्रश्न का सरल उत्तर यही है कि जो लोग विधि-वादी हैं, वे विधि के अनुसार 'अध्यात्म'-विषय का अभ्यास करते रहते हैं । उन्हें लोक-कल्याण की भावना से, अपने सम्पर्क में रहनेवालों में, विधि के अनुसार 'अध्यात्म'-विषय की शिक्षा का प्रचार करना चाहिए । यह हमारी 'परम्परा' है और इस 'परम्परा' का पुनः दृढ़ता से अनुधावन कर हम अपना तथा देश का—दोनों का हित कर सकते हैं ।

३६ भारी त्रुटि

सभी धर्मों के दार्शनिक विचार अलग-अलग होते हैं । उनके अध्ययन से उनके धर्म के मूल सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त होता है, परन्तु धर्म का वास्तविक बोध उसके 'कर्म - काण्ड' में पूर्ण सफलता प्राप्त करने से ही होता है ।

अन्य धर्मों के सम्बन्ध में हम उतना नहीं जानते हैं, परन्तु 'शाक्त-धर्म' के सम्बन्ध में हम यह बात दृढ़ता से कह सकते हैं कि यह धर्म 'कर्म-काण्ड-प्रधान' ही है । इस धर्म की साधना की प्रक्रिया का सतत अभ्यास करने से ही इस धर्म के वास्तविक रहस्य का बोध होता है ।

यही कारण है कि प्रमुख तन्त्र-ग्रन्थों में ही नहीं, किन्तु प्रायः सभी तन्त्र - ग्रन्थों में 'साधना' के विस्तृत क्रिया-कलाप का ही वर्णन मिलता है । इससे भी यही सिद्ध होता है कि 'शाक्त-धर्म' में 'साधना' की 'क्रिया' का ही महत्त्व है, 'विचार' का नहीं, परन्तु अब यह दिखाई देता है कि हमारे शाक्त-धर्माचार्य भी 'क्रिया' की अपेक्षा 'विचार' को अधिक महत्त्व देने लगे हैं !

हम 'विचार' के विरोधी नहीं हैं । 'तत्त्व' अथवा 'सिद्धान्त' का ज्ञान होना निस्सन्देह आवश्यक है, परन्तु उसकी अपेक्षा 'क्रिया' में पूर्ण सिद्धि प्राप्त करना कहीं अधिक आवश्यक है । या यह कहें कि क्रिया-कलाप की 'साधना' के बिना इस धर्म के मूल 'सिद्धान्तों' का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता ।

अतएव शाक्तों को अपनी 'साधना' के 'क्रिया-विधान' का पूर्ण परिचय रखना नितान्त आवश्यक है। यही कारण है कि इस धर्म में 'गुरु' को अधिक महत्त्व दिया गया है क्योंकि 'गुरु' के बिना 'साधना' की 'क्रिया' का ज्ञान होना सम्भव नहीं है।

लोग उत्साहित होकर 'गुरु' से मन्त्रोपदेश तो ले लेते हैं, परन्तु मन्त्र की 'साधना' की 'प्रक्रिया' जानने के लिए उतना उत्साह नहीं दिखाते। ऐसी दशा में यदि उन्हें निराश होना पड़े, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

'तान्त्रिक साधना' वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है। उसमें मनमानी नहीं चलती। 'विधान' का—'पद्धति' का अक्षर-अक्षर अनुधावन करना पड़ेगा। तभी सफलता मिलेगी, अन्यथा नहीं, परन्तु हम देखते हैं कि वर्तमान समय में इसी की अवहेलना की जा रही है और यही अवहेलना करनेवाले कहते सुने जाते हैं कि 'तन्त्र-साधना' में कुछ नहीं हैं।

ऐसी दशा में 'शाक्त-धर्म' के आचार्यों का यह कर्तव्य है कि वे अपने शिष्यों को 'साधना' की 'प्रक्रिया' के सिखाने में अधिक सावधान रहें। केवल मन्त्रोपदेश कर देने भर से उनके कर्तव्य की इति नहीं हो जाती।

आज शाक्त-धर्मानुयायियों पर धर्म - ग्लानि का जो घना कुहासा छाया हुआ है, उसका मूल कारण यही है। हमें विश्वास है कि शाक्त-साधक अपनी इस भारी त्रुटि को दूर करने के लिए यत्नवान् होंगे।

३७ राष्ट्र-पति का धार्मिक आचरण

कलकत्ते के 'नया समाज' नामक मासिक पत्र के जनवरी, ५७ के अङ्क में श्री सत्यदेव विद्यालङ्कार ने **'धर्म-निरपेक्षता के विपरीत आचरण'** शीर्षक से एक लेख प्रकाशित कराया है, जिसमें उन्होंने राष्ट्र-पति के द्वारा 'सोमनाथ मन्दिर' का शिला-न्यास, काशी में ब्राह्मणों का पाद-प्रक्षालन और ज्योतिर्विज्ञान तथा कीर्तन में विश्वास किया जाना '**…जनता को गुमराह करनेवाला धार्मिक प्रपञ्च**…' ठहराया है! उनके इस भ्रामक लेख का तर्क - पूर्ण उत्तर सहयोगी 'श्रीस्वाध्याय' के विद्वान् सम्पादक पण्डित श्रीहरदेव शर्मा त्रिवेदी ने अपने त्रैमासिक पत्र के चैत्राङ्क में एक लेख लिखकर दिया है, जिसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"…किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के विचारों के अनुकूल राष्ट्र-पति के धार्मिक कृत्य नहीं हैं, इसी कारण वे कृत्य धर्म-निरपेक्ष राज्य के प्रतिकूल नहीं कहे जा सकते। हम आज से ५० या १०० वर्ष पश्चात् जिस प्रकार के राष्ट्र की कल्पना करते हैं या जिन विचारों को फैलते हुए देखना चाहते हैं, उनके अनुकूल राष्ट्र-पति के धार्मिक विश्वास नहीं हैं, इसी कारण वे कार्य धर्म - निरपेक्ष राज्य के प्रतिकूल नहीं कहे जा सकते। राज्य वर्तमान काल की भावनाओं का आदर करने के लिए बाध्य है। वह भविष्य की कल्पना कर वर्तमान भावना की उपेक्षा और उसका तिरस्कार नहीं कर सकता।…

"…ऋग्वेद से लेकर परमहंस रामकृष्ण तक इस देश में धर्म-भावना का जो प्रवाह प्रवाहित हुआ है, इसके कारण शतियों से हमारी जनता का मन और हृदय जिन सञ्चित संस्कारों से बना है, उनकी उपेक्षा भारत-राष्ट्र का प्रतीक और प्रमुख नहीं कर सकता और कोई व्यक्ति चाहे भले ही करे।

"...संविधान ने राष्ट्र-पति पर एक महान् उत्तरदायित्व डाला है। उसको इस देश में मिली-जुली (कम्पोजिट) संस्कृति का विकास करना है। इसके साथ ही भारत को चालीस कोटि जनता की मानस-भावना का प्रतीक अपने को बनाना है, न कि कुछ कल्पना-शील सुधारकों का, जिनका आचरण अपने विचारों के अनुसार नहीं। जो सभा-मञ्च (प्लेटफार्म) पर कुछ कहते हैं, पत्रों में कुछ लिखते हैं और आचरण सर्वथा उसके विपरीत करते हैं!

"...राष्ट्र-पति श्री डा० राजेन्द्रप्रसाद का आचरण भारत की कोटि-कोटि जनता की भावना का आदर करता है। लोक-राज्य के लिए इसके विपरीत आचरण करना वस्तुतः आपत्ति-जनक होगा। राष्ट्र-पति किसी पक्ष-विशेष के विचारों का प्रचारक नहीं हो सकता। यदि 'अणु-व्रती तेरह-पन्थी' वहाँ जाते हैं, तो वे उनका भी उपदेश उसी प्रकार सुनते हैं, जिस प्रकार एक शास्त्र-मर्मज्ञ ज्योतिषी की बात क्योंकि भारतीय जनता में उन दोनों का स्थान है और वे दोनों राष्ट्र के प्रमुख के लिए मान्य होने चाहिए।

"भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से एक बात कही थी, जिसकी उपेक्षा कोई शासक नहीं कर सकता। वह बात यह थी (गी० ३/२६)—

'न बुद्धि-भेदं जनयेदज्ञानां कर्म - सङ्गिनाम्। जोषयेत् सर्व - कर्माणि, विद्वान् युक्तः समाचरन्॥'

"कहना न होगा कि राष्ट्र-पति का धार्मिक आचरण सर्वथा इसके अनुकूल है और सब प्रकार से स्तुत्य, प्रशंसनीय एवं भावी राष्ट्र-पतियों के लिए अनुकरणीय है।..."

३८ 'देव-बल' और मनुष्य

'देव-बल' की सहायता से मनुष्य असम्भव को भी सम्भव कर सकता है। ऐसे 'देव-बल' को प्राप्त करने की हमारी ऐतिहासिक परम्पराएँ हैं। यह बात आज भी सारे हिन्दू-समाज में व्यापक रूप से ज्ञात है। यहाँ तक कि वर्तमान धर्म-ग्लानि के समय में भी सभी वर्णों के लोगों में से बहु-संख्यक लोग इस दिशा की ओर प्रयत्न-शील दिखाई दिया करते हैं।

यह 'देव-बल' नाना प्रकार की इष्ट-साधनाओं द्वारा प्राप्त किया जाता रहा है। इन साधनाओं में 'तान्त्रिक' साधनाओं का सदैव विशेष स्थान रहा है, परन्तु इन साधनाओं में मनुष्य को उसकी आत्मिक उन्नति के तार-तम्य के अनुसार ही सफलता या विफलता मिलती रही है। कितने ही सिद्धि प्राप्त कर 'मोक्ष-पद' प्राप्त कर सके, तो बहु - संख्यक ने भौतिक सफलता प्राप्त करने में ही सफलता मानी। कुछ भी हो, 'देव-बल' प्राप्त करने की ऐसी अनेक कथाएँ हैं, जो आज भी कर्मठ आस्तिक हिन्दुओं को उस दिशा की ओर बराबर अग्रसर किए रहती हैं। अस्तु।

'देव-बल' प्राप्त करने की साधना मनुष्य को उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँचा देती है। साधक की जितनी लगन होगी, उतनी ही उन्नति उसे अपनी 'साधना' में प्राप्त होगी। इस सम्बन्ध में हम भूत-कालीन महात्माओं के चरितों के पाठ से 'साधना' की महत्ता का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त करते रहते हैं, परन्तु उन उदाहरणों से हम लोग यही कह कर संतोष कर लेते हैं कि ये अपवाद हैं; सभी कोई ऐसे साधक नहीं हो सकते; 'साधना' उतनी सरल वस्तु नहीं है, परन्तु ऐसी बात नहीं है।

'साधना' का मार्ग सुगम्य है और सभी लोग उससे चलकर लाभ उठा सकते हैं। हम यहाँ पहले दो ऐसे साधकों की चर्चा करेंगे, जिनको हमने देखा है और जिन्होंने वास्तविक अर्थों में साधक न होते हुए भी सिद्धों-जैसी ही लोक-पूजा पाई।

मेरे ग्राम बकसर (उन्नाव -उत्तर-प्रदेश) में चण्डिका जी का एक प्राचीन मन्दिर है। मन्दिर के नीचे पास ही एक साधु रहते थे। उन्हें लोग 'टहलदास बाबा' कहते थे। वे जाति के कायस्थ थे और रामोपासक वैश्य थे, परन्तु वैष्णव होते हुए भी चण्डिका जी के इतने पक्के भक्त थे कि उनके विशाल मन्दिर और उसके लम्बे-चौड़े प्राङ्गण की सारी सफाई उन्होंने वर्षों तक अपने हाथों से की थी। कदाचित् इसी से उनका नाम 'टहलदास बाबा' पड़ गया था। नवरात्र के अवसरों पर वे पचीसों रङ्ग-बिरङ्गे झण्डों से मन्दिर के मुख्य द्वार को सजाते थे। इन झण्डों पर उर्दू की सुन्दर लिपि में लिखी हुई कविताएँ रहती थीं। उनकी इस सेवा और साधना का परिणाम यह हुआ कि जो भी चण्डिका जी के दर्शन-पूजन के लिए आता, वह 'टहलदास बाबा' का दर्शन - पूजन अवश्य करता। यह लोक - पूजा उन्होंने अपनी 'साधना' के द्वारा ही प्राप्त की थी।

टहलदास बाबा के दिवङ्गत हो जाने पर एक नव-युवक ब्राह्मण चण्डिका जी के मन्दिर के पास आकर ठहरा। मन्दिर की गन्दगी को देखकर उसने उसके साफ रखने का भार अपने ऊपर स्वेच्छा से ले लिया। वह भी प्रायः सारा दिन मन्दिर के साफ करने में ही लगा रहता। नीचे गङ्गा जी से बड़े-बड़े घड़ों में जल लाकर मन्दिर को धोया भी करता था। तीन-चार वर्ष के बाद वह भी मन्दिर के एक अश में साधु का वेष धारण करके जम गया। अब वे 'सैलानी बाबा' के नाम से प्रसिद्ध हुए। भगवती चण्डिका जी की पूजा के साथ - साथ उनकी भी पूजा प्रारम्भ हो गई। यह 'साधना' का फल नहीं है, तो और क्या है!

अब मैं यहाँ दो 'तान्त्रिक' साधकों की 'साधना' का उल्लेख करूँगा। इनके दर्शनों का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ है। ये मेरे पिता स्व० पण्डित कामदाप्रसाद शुक्ल के सम-कालीन थे और सु-परिचित भी थे। मेरे गाँव से बारह मील दूर एक गाँव के एक तिवारी जी ने चण्डिका जी में आकर कुछ समय तक 'तान्त्रिक साधना' की थी। वे यहाँ से जयपुर चले गए और वहाँ के तत्कालीन राजा महाराज सिंह ने उनकी योग्यता को देखकर, पहचान कर, उनका समुचित आदर किया। बाद में उनकी क्षमता और महिमा से आकृष्ट होकर अलवर-नरेश महाराज विजयसिंह ने उन्हें महाराज मानसिंह से माँगकर अपने यहाँ रखकर उनका गुरु - वत् सम्मान किया। ये तिवारी जी सिद्ध पुरुष थे। इनका नाम 'मोतीलाल' था। इनकी 'तान्त्रिक साधना' का ही यह परिणाम हुआ कि ये ऐसे राज्य-सम्मान द्वारा समादृत हुए थे।

दूसरे सज्जन 'पण्डित रामनिवाज मिश्र' मेरे गाँव से दो मील की दूरी पर एक छोटे-से गाँव में निवास करते थे। चण्डिका जी के मन्दिर में इन्होंने भी कुछ काल तक 'साधना' की थी। इसके बाद ये लाहौर चले गए। उस समय पञ्जाब में महाराज रणजीतसिंह शासन कर रहे थे। वे पण्डित रामनिवाज जी से मिलकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने इन्हें अपने दरबार में रख लिया। महाराज इनसे पुराण सुना करते थे। उनके स्वर्ग-वासी हो जाने पर ये अपने गाँव को लौट आए। फिर कहीं नहीं गए। यह इनकी 'साधना' ही का परिणाम था कि महाराज रणजीतसिंह जैसे प्रतापी नरेश से इन्होंने आदर और सम्मान पाया था।

सारांश यह कि 'साधना' कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो असाध्य हो और केवल अपवाद-रूप व्यक्ति ही उसका उपयोग कर सकते हों। ऊपर संक्षेप में जो चार उदाहरण दिए गए हैं, उनका आशय यही है

कि 'साधना' सबके लिए सुलभ है। हाँ. 'साधना' करनेवाले में सच्ची लगन का होना नितान्त आवश्यक है। बिना लगन के 'साधना' में सिद्धि कदापि नहीं प्राप्त होती, यह एक खुला सत्य है।

३९ काम्य-साधना और तन्त्र

कुछ विज्ञ-जनों का यह आरोप है कि 'तान्त्रिक साधना' कामना-परक है। इस सम्बन्ध में हमारा ऐसे विज्ञों से निवेदन यह है कि वह 'कामना-परक' भी है और 'अकामना-परक' भी। वह दोनों प्रकार की है और ऐसा होना ठीक भी है।

जो लोग यह समझते हैं कि कामना-परक उपासना 'हेय उपासना' है और सबको 'निष्काम उपासना' का उपदेश करते रहते हैं, वे वस्तु-स्थिति की उपेक्षा करते हैं। वे एक ही डण्डे से सबको खदेड़-कर एक ही रास्ते पर ले जाने का व्यर्थ का प्रयास करते हैं!

ऐसे महत्त्वाकांक्षी सत्पुरुष अपने उक्त महत्-प्रयत्न के परिणाम की ओर दृष्टि-पात तक करना आवश्यक नहीं समझते कि उनके इस महत् - प्रयत्न का समाज पर क्या प्रभाव पड़ा? समाज 'अध्यात्म' की ओर कितना बढ़ सका? कदाचित् इस पर विचार करना वे आवश्यक ही नहीं समझते!

'तान्त्रिक' धर्माचार्य इस प्रकार का दुस्साहस नहीं करते। वे वस्तु स्थिति को देखकर ही अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं। जिस व्यक्ति की जैसी मनः-स्थिति होती है, उसकी ओर पूर्ण रूप से दृष्टि रखकर, उसके सर्वथा अनुरूप हो, वे उसके लिए 'साधना-मार्ग' का निर्देश करते हैं। ऐसा करने से साधक क्रमशः अध्यात्म की ओर बढ़ने का अधिकारी होता है और इस क्षेत्र में वह जितनी अधिक प्रगति कर पाता है, तदनुरूप गुरु-देव उसे आगे बढ़ाते चलते हैं। जहाँ 'क-ख-ग' पढ़ाने की आवश्यकता है, वहाँ वे उसे पहले ही दिन **'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा'** का सूत्र पढ़ाने नहीं लग जाते!

कहने का तात्पर्य यह है कि 'तन्त्र - साधना' में **'अधिकार - भेद'** का महत्त्व माना गया है और 'तन्त्र-धर्म' के आचार्य उसका यथा - वत् पालन भी करते रहते हैं। ये सबको एक डण्डे से हाँक कर 'अध्यात्म' के गन्तव्य मार्ग की ओर नहीं हाँक ले चलते।

'तन्त्र-धर्म' की उक्त विशिष्टता की ओर उसके आलोचक ध्यान नहीं देते। इसी से वे आए दिन उसे **'काम्य-धर्म'** बताकर उसका उपहास करने का निन्द्य प्रयास करते रहते हैं।

समाज में एक ही प्रकृति के तो सब लोग होते नहीं। सबकी अपनी-अपनी अलग-अलग मनः-स्थिति होती है। सभी 'ब्रह्म-भाव' की ओर अग्रसर नहीं हो सकते। जो उसका अधिकारी होता है, वही अकेला उस भाव की ओर अग्रसर हो सकता है। दूसरे लोग अपनी-अपनी मनः-स्थिति के अनुसार ही, साधना करते हुए, यथा-समय इस महोच्च भाव की ओर अपने आप आ जाते हैं, परन्तु यदि इस दृष्टि से विचार न कर 'गुरु' उसे हठात् ब्रह्म-भाव की ओर प्रेरित करता है, तो उसका परिणाम उस साधक के लिए अनिष्ट-कर ही सिद्ध होता है।

'तन्त्र' में 'अधिकार-भेद' को अधिक महत्त्व दिया गया है। तन्त्र-मार्ग में 'काम्य-साधना' के सफल होने से साधक का 'विश्वास' दृढ़ होता है, और 'श्रद्धा' स्वभावतः बढ़ जाती है। तब वह सद्-गुरु की प्रेरणा से 'अध्यात्म-मार्ग' की ओर सहज ही अग्रसर किया जा सकता है।

बात यह है कि 'साधना-क्षेत्र' में भी अपना एक 'क्रम' है। वह अन्धा-धुन्धी मार्ग नहीं है कि जो चाहे, जहाँ से कूदकर उसमें आगे बढ़ सके ! उसकी विधि और विधान है। मन-मानी घर-जानी नहीं है, परन्तु दुराग्रही इस क्षेत्र में आकर मन-मानी करते हैं। वे धोखा ही खाते हैं। उनके हाथ कुछ नहीं लगता।

जो 'विधि-विधान' का पालन करते हुए 'साधना' करते हैं, उनकी इह-लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही प्रकार की कामनाएँ सिद्ध होती हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण **'सप्तशती का कथानक'** है। सुरथ और समाधि ने एक ही देवता की उपासना की थी, परन्तु कामना में भेद था। सुरथ ने 'राज्य' प्राप्त किया और समाधि को 'मुक्ति' मिली।

तान्त्रिक उपासना को 'कामना-परक' उपासना कहनेवालों को न्याय करना चाहिए। उन्हें सत्य की हत्या नहीं करनी चाहिए। 'तन्त्र' तो 'भुक्ति' और 'मुक्ति' दोनों ही प्रदान करता है, यह एक अनुभूत सनातन सत्य है।

४० 'तान्त्रिक साधना' का रहस्य

'तान्त्रिक साधना' चामत्कारिक साधना है। भौतिक तथा पारलौकिक—दोनों दिशाओं में इसके द्वारा साधक को चमत्कार-पूर्ण सफलता प्राप्त होती है। यही कारण है कि दोनों प्रकार के साधक इस महत्त्व-पूर्ण साधना की ओर विशेष रूप से आकृष्ट होते हैं, परन्तु सद्-गुरुओं के अभाव से इन साधकों में से अधिकांश विफल-मनोरथ ही होते देखे गए हैं। इसका कारण है।

बात यह है कि साधक जितना फल-प्राप्ति के लिए इच्छुक तथा उत्सुक रहते हैं, उतना ही उनमें श्रद्धा व नियम-पालन का अभाव रहता है। साधक में यदि पूर्ण श्रद्धा हो तथा नियम-पालन करने की दृढ़ता हो, तभी साधना में सफलता की आशा करना सङ्गत हो सकता है, अन्यथा नहीं, परन्तु यहाँ विपरीत ही दृश्य दिखाई देता है।

मन्त्र ग्रहण करके प्रायः सभी साधक तत्काल आकाश में उड़ने लगते हैं और हवाइयाँ बाँधने लगते हैं! तब वे भूमि पर पुनः आ गिरें, तो इसमें क्या आश्चर्य ? भौतिक हो, चाहे पारलौकिक हो—दोनों प्रकार की साधनाओं में बड़ी सावधानी रखने और श्रद्धा-पूर्वक यथा - विधि आचरण करने से ही सफलता सम्भव है और सो भी तब, जब गुरु का सान्निध्य भी प्राप्त हो। इसके उदाहरण प्राचीन काल से अब तक बराबर मिलते आए हैं, परन्तु अधीर मानव बात-की-बात में अपने प्रयत्न में सफलता प्राप्त कर लेना चाहता है।

भौतिक साधना में चाहे जब-तब सफलता मिल भी जाय, परन्तु पारलौकिक साधना अत्यन्त कठिन है। यही कारण है कि 'तान्त्रिक' साधकों में उस मार्ग के पथिक बहुत कम दृष्टि में आते हैं। प्रपञ्च-ग्रस्त प्राणी परम तत्त्व की उपलब्धि के लिए क्यों उन्मुख होने लगा ? यही एक मुख्य बात है, परन्तु यह सर्वथा सत्य है कि इस 'तान्त्रिक साधना' के द्वारा परमात्म-ज्ञान अवश्य हो जाता है।

आवश्यकता केवल साधक में सुदृढ़ विश्वास और श्रद्धा का होना है। कठिन होने पर भी इस साधना में अल्पकाल में ही सफलता मिल जाती है—ऐसा शास्त्र का ही वचन नहीं है, किन्तु इस दिशा के सिद्ध साधक अभी तक देखने में आ रहे हैं। चार-पाँच वर्ष के ही प्रयत्न में उन्हें परम तत्त्व का सम्यक् बोध हो गया है। ऐसा अनेक साधकों को अनुभव हुआ है।

असल बात यह है कि 'तान्त्रिक साधना' एक निश्चित आधार पर आधारित है और उस साधना की पूर्णता का काल भी निश्चित है। साधक उस आधार को ग्रहण कर यथा-विधि साधना करता हुआ निर्धारित काल के भीतर ही अपनी मनो-वाञ्छा की पूर्ति कर लेता है। यही एक ऐसा तथ्य है, जो अतीत काल से 'तान्त्रिक साधना' के गौरव-वर्धन का कारण रहा है।

दुःख की बात है कि उक्त रहस्य को जानते हुए भी आज के 'तान्त्रिक' साधक अपनी साधना में अधिकतर विफल-मनोरथ ही होते पाए जाते हैं। इसका कारण क्या है, इस पर वे धैर्य-पूर्वक विचार नहीं करते, उलटा साधना-क्रम की ही निन्दा करने लग जाते हैं! अपना दोष नहीं देखते, त्रुटियों पर ध्यान नहीं देते, अपने मनो-विकारों पर जय नहीं प्राप्त करते—दोष देते हैं उस अव्यर्थ विद्या को, जो आज भी यदा-कदा अपनी सत्यता का प्रत्यक्ष प्रभाव उपस्थित कर दिया करती है! यह वास्तव में बड़े परिताप की बात है।

इस अवस्था पर 'तान्त्रिक' साधकों को तो ध्यान देना ही चाहिए, हमारे गुरुओं और आचार्यों को भी विचार करना चाहिए क्योंकि इस सारी दुरवस्था की जिम्मेदारी उन्हीं पर आती है। उनका यह प्रधान कर्त्तव्य है कि जब वे किसी को विद्या प्रदान करते हैं, तब उन्हें देखना चाहिए कि उनकी प्रदत्त विद्या व्यक्ति को परमार्थ के मार्ग पर सफलता प्रदान करती है या नहीं, परन्तु हम देखते हैं कि न शिष्य ही और न गुरु ही अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे हैं! ऐसा नहीं होना चाहिए।

४१ कल्याण का मार्ग

'हिन्दू-धर्म' सदैव उदार और सहिष्णु रहा है। उसने अपने से विरुद्ध विचार रखनेवालों का उन्मूलन करने के स्थान में उन्हें बराबर स्वतन्त्रतापूर्वक आगे बढ़ने दिया है। यही कारण है कि उसके अपने जन्म-स्थान में विरोधी धर्मों की स्थापना हुई, उनकी वृद्धि हुई और उनका पराभव हुआ। यह सब हुआ, परन्तु 'हिन्दू-धर्म' के आचार्य तथा माननेवाले दोनों ने ही अपने को उनकी प्रगति से अलग रखा। उनकी इस निरपेक्षता-नीति के कारण तथा जन्म-गत उदारता तथा सहिष्णुता के फल-स्वरूप स्वयं उसके भीतर भी अनेक मतों और मतान्तरों का उदय और अस्त होता रहा।

उक्त विचित्र नीति के कारण ही आज 'हिन्दू-धर्म' अपने मूल स्रोत से हट कर विभिन्न मत-मतान्तरों में विभक्त होकर शक्ति-हीन तथा निर्जीव-सा हो गया है। उसकी अभिवृद्धि का स्रोत भी, ऐसा प्रतीत होता है कि सूख-सा गया है। इस अवस्था का एक व्यापक परिणाम यह हुआ है कि उसके स्थान में ही विरोधी मत-मतान्तरों की स्थापना होकर उसका वे ह्रास और ग्रास करने में तत्परता के साथ ऐसा संलग्न रहते हैं कि अपनी दयनीय दुरवस्था को देखते हुए भी वह अपनी रक्षा न तो कर पाता है और न कर सकता है!

असल बात यह है कि धर्म-परिवर्तन का सिद्धान्त 'हिन्दू-धर्म' नहीं मानता। इधर उसके विरोधी मत 'धर्म-परिवर्तन' को अपना मूलाधार मान कर दिन-दिन वृद्धि-गत होते जा रहे हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी प्रगति का यह क्रम यदि अधिक समय तक जारी रहा, तो आश्चर्य नहीं कि एक दिन 'हिन्दू-धर्म' का नाम तक भी मिट जाय। वह इतिहास-ग्रन्थों में ही पढ़ने को मिले! ऐसी भयानक

अवस्था के आने के पहले ही हिन्दुओं के धर्माचार्यों को सावधान होकर प्रतिकार का कोई उपाय ग्रहण करना चाहिए।

हिन्दुओं की पराधीनता का जो युग बीत चुका, उसमें वे अपनी रक्षा का उपाय करना चाहते, तो भी न कर पाते, परन्तु आज भारत स्वतन्त्र है। ऐसे स्वतन्त्र भारत में सभी लोगों को जब अपनी आत्म-रक्षा करने का अधिकार मिल गया है, तब विशाल 'हिन्दू-जाति' उससे कैसे वञ्चित हो सकती है! उसे भी सबकी भाँति अपनी, अपने धर्म की और अपनी संस्कृति की रक्षा करने का अधिकार प्राप्त है।

यह तो है, परन्तु सबसे पेंच की बात तो यह है कि हिन्दू-धर्म **'धर्म - परिवर्तन'** के सिद्धान्त को **नहीं** मानता। उधर स्वतन्त्र भारत के शासन-विधान में धर्म-प्रचार करने का तथा **'धर्म-परिवर्तन'** करने का खुला अधिकार सबको दिया गया है। यह बात सर्वथा असङ्गत है। धर्म - निरपेक्ष सरकार को यह बात देखनी चाहिए कि उसके शासित देश में एक विशाल संख्या ऐसे लोगों की बसती है, जो **'धर्म-परिवर्तन'** के सिद्धान्त को नहीं मानते। ऐसी दशा में उसे चाहिए था——नहीं, उसका यह आवश्यक कर्त्तव्य था कि **'धर्म-परिवर्तन'** का अधिकार कुछ प्रतिबन्धों के साथ देती।

अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। शासन-विधान में संशोधन हो सकता है। आवश्यकता है 'हिन्दू-धर्म' के आचार्यों तथा नेताओं के प्रबुद्ध होने की। उन्हें शासन-विधान के उस अधिकार में आवश्यक सुधार करवाना चाहिए। साथ ही अपने समाज में भी धर्म का इस ढङ्ग से प्रचार करना चाहिए कि लोग 'स्व-धर्म' का त्याग कर 'पर-धर्म' में न जाएँ और जो जा रहे हों, उनको रोकें तथा जो चले गए हों, उन्हें प्रेम-पूर्वक बुलाकर अपने में मिला लेवें।

यदि इस सम्बन्ध में हम अपनी निरपेक्षता एवं उदासीनता का परित्याग शीघ्रातिशीघ्र नहीं करेंगे, तो समझ लेना चाहिए कि हम अपने हाथों ही अपनी जाति, धर्म तथा संस्कृति की हत्या करने को उतारू हो गए हैं। इसलिए हे हिन्दुओं! उठो, जागो और अपनी अवस्था का ज्ञान प्राप्त करो। यही एक-मात्र कल्याण का मार्ग है।

४२ विधि और नियम का महत्त्व

धर्म के क्षेत्र में 'श्रद्धा' और 'विश्वास' की बड़ी महिमा है। शास्त्र तो इन दोनों सद्-गुणों पर बल देता ही है। आर्य आचार्य लोग भी अपने सदुपदेशों में इन्हीं पर विशेष रूप से जोर दिया करते हैं। ठीक भी है। धर्म का क्षेत्र अदृष्ट है, अगोचर है। 'श्रद्धा' और 'विश्वास' का अवलम्बन ही उस अज्ञात देश के मार्ग पर पक्का सहारा दे सकता है, परन्तु एक बात और है, जिसकी ओर उतना ध्यान नहीं दिया जाता। वह है विधि और नियम का पालन।

लाख 'श्रद्धा' और 'विश्वास' किसी में हो, उस अज्ञात देश का मार्ग भी उसे मालूम हो गया हो, किन्तु यदि वह सविधि नियम-पूर्वक अपने मार्ग का अनुसरण नहीं करेगा, तो वह अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच सकेगा या नहीं, यह कहना कठिन है। 'श्रद्धा' और 'विश्वास' धर्म के क्षेत्र में जितना अधिक महत्त्व रखते हैं, विधि और नियम का भी उतना ही महत्त्व है। हम तो यहाँ तक कहेंगे कि 'विधि' और 'नियम' का उनकी अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व है। कम-से-कम 'साधना' के क्षेत्र में उनकी अपेक्षा 'विधि' और 'नियम' का पालन करना कहीं अधिक अनिवार्य है।

हम आए दिन अपने सांसारिक जीवन में प्रत्यक्ष देखते रहते हैं कि यदि हम कोई काम करने लगते हैं और उसके करने की विधि में या तत्सम्बन्धी नियमों का अनुसरण करने में यदि हम चूक जाते हैं, तो हमें उस काम के करने में पूर्ण सफलता नहीं मिलती। यही नहीं, कभी - कभी तो काम इतना बिगड़ जाता है कि भारी हानि तक उठानी पड़ती है। इस प्रत्यक्ष अनुभव से, जो हमें प्रायः होता रहता है, हम भले प्रकार समझ सकते हैं कि उस अज्ञात देश के मार्ग पर चलने के लिए हमें 'विधि' और 'नियम' के पालन करने की कितनी अधिक सावधानी रखने की आवश्यकता है।

औरों की बात तो हमें ज्ञात नहीं है, परन्तु अपने 'शाक्त - धर्म' के साधकों को हम प्रायः जब यह कहते हुए सुनते हैं कि **'न विधिर्न निषेधः'**, तब हमें बड़ा दुःख होता है, क्योंकि हम स्पष्ट देखते हैं कि 'विधि' और 'निषेध' की जितनी कड़ी आज्ञा **'शाक्त-धर्म'** के ग्रन्थों में पाई जाती है, उतनी अन्य बातों के सम्बन्ध में नहीं है, परन्तु उक्त **'न विधिर्न निषेधः'** के सूत्र की भ्रान्ति में पड़कर विज्ञ-से-विज्ञ साधकों को हम प्रायः नियमों और विधियों की उपेक्षा करते पाते हैं। ऐसी दशा में यदि साधकों को सिद्धि नहीं मिलती, तो इसमें 'साधना' का क्या दोष ?

पद्धतियों में लिखा है कि **'प्रातः-कृत्य'** नित्य करना चाहिए, अन्यथा 'साधना' में सफलता नहीं मिलेगी, परन्तु **'प्रातः-कृत्य'** का करना तो अलग रहा, उसके जाननेवालों का ही अभाव है ! पद्धति-कार लिखता है कि **'निशा-पूजा'** अर्थात् **'चक्र-यजन'** स्नान करके करे। हम प्रायः देखते हैं कि स्नान करना तो अलग रहा, कितने ही लोग पैर धोना तक भूल जाते हैं ! और - तो - और, जिन वस्तुओं से **'निशार्चन'** करने की विधि बताई गई है और पूजन के जो 'नियम' निर्दिष्ट किए गए हैं, उन सबको जानते हुए भी बड़े-बड़े आचार्यों को मनमाने ढङ्ग से **'चक्रार्चन'** करते हमने देखा है। ऐसा क्यों ?

'विधि' जानते हैं, 'नियम' जानते हैं और उनका वे पालन भी कर सकते हैं; तब समय का अभाव या प्रमाद ही इसका कारण हो सकता है कि वे 'विधि' और 'नियम' की उपेक्षा करते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

'चक्रार्चन' में प्रमुख पूजोपकरण **'पञ्च-तत्त्व'** हैं। ये पाँचों तत्त्व अपने-अपने पूर्ण रूप में सुलभ होते हुए भी इनके संग्रह करने में हमने सर्वत्र उपेक्षा का भाव देखा है। यहाँ तक कि जो संग्रह किए जाते हैं, उनकी शुद्धता और अशुद्धता पर भी उतना ध्यान नहीं दिया जाता ! यह है हाल उन साधकों का, जो साधक होने का गर्व करते हैं और जो सचमुच साधक होते भी हैं, परन्तु नियमों और विधियों की उपेक्षा करके वे अपनी शक्ति बढ़ाने के स्थान में उसका ह्रास ही करते रहते हैं। **'न विधिर्न निषेधः'** के उनके सिद्धान्त ने उनकी तपस्या के सारे फल पर हड़ताल फेर दी है !

'विधि' और 'नियम' का पालन करके ही जब हम सांसारिक जीवन में आए दिन सफल-मनोरथ होते रहते हैं, तब हम उस अज्ञात देश के मार्ग में उनकी उपेक्षा करके कैसे सफल-मनोरथ हो सकते हैं ? यह विचार करने की बात है। आशा है, शाक्त - साधक इस महत्त्व की बात के ऊपर ध्यान देकर 'शाक्त-धर्म' को समुन्नत करने के कार्य में संलग्न होंगे। प्रमाद और भ्रान्ति के वशीभूत होकर कोई भी साधक, चाहे कितना ही वह तेजस्वी हो, अपनी साधना में कदापि सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। 'श्रद्धा' और 'विश्वास' के साथ-साथ 'विधि' और 'नियम' पर जितना ही हम दृढ़ होकर अपनी साधना में संलग्न होंगे, उतना ही हम सफलता प्राप्त कर सकेंगे—इसमें सन्देह नहीं।

एक बात और, जो लोग 'कोरी श्रद्धा' और 'कोरे विश्वास' के महत्त्व का ही बखान करते रहते हैं, वे चाहे भले ही धोखा न खाते हों, परन्तु दूसरों को अवश्य भ्रान्ति का पथिक बना देते हैं। 'मिथ्या विश्वास' और 'झूठी श्रद्धा' मनुष्य को जड़ बना देती है, जिससे वह अध्यात्म के मार्ग में अग्रसर होते ही अज्ञान का आखेट हो जाता है ! ऐसे बहु - संख्यक व्यक्ति हम सबके चारों ओर धर्म का जो खिलवाड़ किया करते हैं, उसे देखकर कोई भी सहृदय व्यक्ति द्रवित हुए बिना नहीं रह सकता।

जिन व्यक्तियों की बदौलत हमारे ये बन्धु इस प्रकार धोखे के गड्ढे में पहुँचाए जाते रहते हैं, उनके सम्बन्ध में क्या कहा जाय ! वे तो अपना काम बनाकर, पूजा-अर्चा लेकर चलते बनते हैं और हमारे ये बेचारे 'अन्ध-विश्वासी', सीधे-सादे प्राणी, जिन्हें भगवान् की सु-राह पर लगाना प्रत्येक भगवद्-भक्त का मुख्य काम ही नहीं, मुख्य कर्त्तव्य है, धोखा और मार खाते हैं ! दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आज यही हो रहा है। हो भी क्यों न ? सबको तो अपने-अपने स्वार्थ की पड़ी है !!

४३ विचारक बनाम साधक

संसार में जितने अनर्थ होते हैं, उनके मूल कारण में 'बुद्धि-विभ्रम' का ही विलास देखने को मिलता है। जिस बात को एक व्यक्ति ठीक समझता है, उसी को दूसरा गलत मानता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लोग किसी बात पर एक-मत तो होते हैं, किन्तु 'बुद्धि - भेद' के कारण उसके व्यवहार को ही लेकर उलझ पड़ते हैं ! यही सब देखकर कदाचित् पूर्व - काल में किसी ने **'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना'** की लोकोक्ति का प्रचलन किया है।

मनुष्य में 'बुद्धि-भेद' के इस दोष को ऋषि - महर्षि अच्छी तरह जानते थे। उसके अनर्थकारी प्रभाव का भी अनुभव उन्हें अच्छी तरह था। इसी से उन्होंने अपने अनुगतों के लिए यह अनुशासन-मन्त्र रख दिया—**'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते।'** ऐसी परम्परा भी चल गई कि प्रत्येक व्यक्ति के मन में यह बात बैठ जाय कि 'बुद्धि' के इधर-उधर करने से सर्वनाश सुनिश्चित है।

यह सब होते हुए भी यह याद रखने की बात थी कि 'बुद्धि' बुद्धि ही है। उसके विलास को रोकने में किसी प्रकार का अनुशासन यदि समर्थ हो जाय, तो फिर वह 'बुद्धि' ही कैसी रही ! आज भी संसार में अनर्थों की कमी नहीं है, प्रत्युत बाढ़ ही दिखाई देती है, परन्तु यह उतने खेद की बात नहीं है क्योंकि यदि यह सब न हो, तो संसार की विशेषता ही क्या रही ? उसका 'प्रपञ्च' नाम ही मिथ्या न पड़ जाता !

इस सम्बन्ध में खेद तो तब होता है, जब 'बुद्धि-भेद' के इस खिलवाड़ का दुष्प्रभाव आध्यात्मिक क्षेत्र में दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए यहाँ हम कुछ ऐसी बातों की चर्चा करेंगे, जिनसे 'बुद्धि' की इस अनथ-कारी विशेषता पर थोड़ा-बहुत प्रकाश पड़ेगा।

धर्म-सम्बन्धी वार्त्तालाप होने पर प्रायः दो प्रकार के व्यक्तियों से साक्षात् करने का अवसर मिलता है। एक तो वे होते हैं, जो केवल बातें करने में ही अपनी धर्म-जिज्ञासा की परितृप्ति समझते हैं। ऐसे व्यक्ति कभी-कभी ही सन्तुष्ट होते दिखाई देते हैं और उन्हें सन्तुष्ट कर सकना सरल भी नहीं क्योंकि उनके 'क्यों', 'कैसे', 'किसलिए' आदि का अन्त ही नहीं मिलता !

बातों - ही - बातों में वे धर्म के ओर-छोर का अन्वेषण कर डालने की महत्त्वाकांक्षा रखते हैं। इस प्रकार के सज्जनों में से बहुत से तो 'बकवादी'—श्रेणी में निकल जाते हैं और थोड़े से उस

कोटि के निकलते हैं, जिन्हें 'दार्शनिक' रूप में लोग मान देते हैं। प्रथम कोटि में हमें इन्हीं को रखना है।

दूसरी ओर वे व्यक्ति होते हैं, जो बातें उतना पसन्द नहीं करते। वे चाहते हैं कि उन्हें बातें उतनी ही बताई जाएँ, जो उनके मन में बैठ सकें और जिनके अनुसार 'साधना' करके वे कुछ अनुभव प्राप्त कर सकें। ऐसे व्यक्तियों में अधिकांश तो ऐसे निकल जाते हैं, जो स्वार्थ-वश 'प्रयोग - कर्म' के प्रेमी होकर सम्मुख आते हैं। इनका जो महत्त्व 'साधना-क्षेत्र' में है, उससे कोई भी विचार-शील व्यक्ति असहमत न होगा। इन्हीं के प्रयोगों से यह सिद्ध होता आया है कि 'मन्त्र-साधना' कितना व्यावहारिक विज्ञान है। फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि प्रथम कोटि में जिन दार्शनिकों को हम रख आए हैं, उनसे इनकी कोई समता नहीं की जा सकती।

हमारा मतलब इस दिशा में तो केवल उन व्यक्तियों से है, जो क्षुद्र फलाशा से लालायित न होकर 'साधना - क्रम' में लवलीन होते हैं और अपने इष्ट का साक्षात्कार करने की दिशा में अग्रसर होने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे व्यक्ति मात्र **'इष्ट-प्रसन्नार्थे'** साधना में तल्लीन होना श्रेयस्कर मानते हैं। बातें ये सुनते हैं, कहते भी हैं—परन्तु वैसी ही, जो अनुभव-गम्य हों। आकाश - पाताल की बातें, जिनके अनुभव में आने की निकट भविष्य में आशा तक न हो, उन्हें कभी पथ-भ्रष्ट नहीं करतीं। ऐसे ही साधना-संलग्न व्यक्तियों को हम दूसरी कोटि में रखना चाहेंगे।

इस प्रकार हमारे सम्मुख दो प्रकार के व्यक्ति हैं। एक तो वह, जो दार्शनिक ढङ्ग की—साधारण व्यक्ति के समझ में न आनेवाली—बातों के विश्लेषण में निरत रहता है और दूसरा वह, जो क्रम-पूर्वक साधना करता हुआ अपने इष्ट की ओर बढ़ता जाता है। स्पष्ट ही पहले प्रकार का व्यक्ति मात्र 'विचारक' है, जब कि दूसरी कोटि का व्यक्ति 'विचारक' और 'साधक'—दोनों ही है। इस बात को अधिक स्पष्ट रूप से यदि समझना चाहें, तो हमें इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों की विशेषताओं पर ध्यान देना होगा। पहले हम 'विचारक' कोटि के व्यक्ति को लेंगे।

अधिकांश 'विचारक' विचार-मार्ग के खोजी होते हैं। संसार की साधारण बातों की छान-बीन करते हुए सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्त्व तक बुद्धि द्वारा पहुँचने का उनका प्रयत्न निरन्तर होता रहता है। इस प्रयत्न में यदि वे जमे रह पाते हैं, तो इस विश्वास पर कि **'केवल ज्ञान से भी मानव-जीवन के उस चरम लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है, जिसके लिए दूसरी ओर साधना - क्रम की भी आवश्यकता बताई जाती है।'**

यह विश्वास उनका प्रायः डिगता रहता है क्योंकि संसार की जिन बातों को क्षुद्र समझकर वे पीछे छोड़ चुकते हैं, उन्हीं से वे अपने को प्रायः विचलित होते पाते हैं, परन्तु तर्क-वितर्क करते-करते उनकी मनोगति इस योग्य नहीं रह जाती कि साधना - द्वारा अपने विचारों को अनुभूति में ला सकें। अतएव बार - बार उन्हें **'ज्ञानात् एव मुक्तिः'** के सिद्धान्त पर भरोसा करने को बाध्य होना पड़ता है!

प्रकट ही है कि ऐसे व्यक्ति स्वयं अपना ही अहित करते हैं। कर्म-भूमि में कर्म-प्रधान जीवन पाकर अकर्मण्य रहना और केवल विचारों की दौड़ से मुक्ति-लाभ का स्वप्न देखना अपने अमूल्य जीवन को व्यर्थ नष्ट करना ही तो हुआ! यह बात जब विचार में आती है, तो इन पर दया ही आती है,

परन्तु यह सोचकर कि जब इस जन्म में इन्होंने विचार-पथ में प्रगति की है, तो जगदम्बा की अनुकम्पा इन पर होगी ही और अगले जन्म में साधना - पथ पर भी अग्रसर होने का अवसर इन्हें प्राप्त हो सकेगा, कुछ सन्तोष होता है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि 'विचारक' व्यक्ति कभी - कभी अपनी ही हानि करने से सन्तुष्ट न होकर दूसरों की भी हित-हानि करने के निन्द्य कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं। चाहे अनजान में ही क्यों न हो, अपनी तथा-कथित ऊँची-ऊँची बातों द्वारा वे सामान्य व्यक्ति को मार्ग - भ्रष्ट करने का कुकर्म करने लगते हैं। यह कुकर्म वहाँ दृष्टि - गत होता है, जहाँ वे एक ओर तो यह कहते हैं कि ब्रह्म-प्रकृति की मीमांसा करने का अधिकार सबको नहीं है और दूसरी ओर यह भी फतवा देते हैं कि सामान्य कर्म निरर्थक हैं! ऐसी दशा में साधारण व्यक्ति 'बुद्धि-भेद' की माया में फँस जाते हैं। 'संशयात्मा' होकर वे न इधर के रहते हैं, न उधर के!

यह सच है कि 'साधक' व्यक्तियों पर उक्त विचारकों की 'उड़ानों' का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और ये अपने निर्दिष्ट मार्ग पर अग्रसर होते जाते हैं। तथापि सर्व-साधारण के हित की दृष्टि से 'विचारक' कोटि के व्यक्तियों को यह सलाह देना समुचित ही होगा कि उन्हें बहुत सोच-समझकर अपने कथन को जन-समाज के सम्मुख रखना चाहिए।

'साधक' व्यक्ति की विशेषता के सम्बन्ध में कुछ कहना तो सूर्य को दीपक दिखाने के समान होगा। वह 'अनुभूति' पर जितना विश्वास रखता है, उतना 'दिमागी उड़ान' पर नहीं। वह श्री जगदम्बा के श्रीचरणों पर अपने को शिशु-वत् डालकर अपने को अज्ञानी और 'कुपूत' मानने में ही गौरव मानता है और शास्त्र-निर्दिष्ट तथा गुरूपदिष्ट 'साधना-क्रम' पर चलकर अपने जीवन को धन्य बनाता है। वह अन्तश्चक्षुओं-द्वारा महा-माया की सृष्टि-स्थिति-संहार-लीला का पर्यालोचन करने में उतना महत्त्व नहीं मानता। वह तो 'मा' के दिए हुए बाह्य चक्षुओं का उपयोग करते हुए अपने स्वाभाविक नटखट-पन में ही व्यस्त रहता है। उसे प्रति-क्षण भरोसा रहता है श्रीगुरु-चरणों का—'मा' की दया-दृष्टि का।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'शास्त्र' और 'गुरु-परम्परा' का अवलम्बन करने के कारण 'साधक' व्यक्ति न केवल 'साधना-मार्ग' पर चलने का अवसर प्राप्त करता है, किन्तु उच्च-से-उच्च आध्यात्मिक विचारों के मनन करने का भी उसे सुअवसर मिलता रहता है। निरभिमानी होने से वह सभी प्रकार की विचार-धाराओं का ज्ञान प्राप्त करता है और चुपचाप श्रीचरणों की सेवा का सौभाग्य अर्जित करता रहता है।

'साधक' को इस बात की लालसा नहीं होती कि वह ऊँची - ऊँची बातें बघारे, जिससे लोग उसके पाण्डित्य पर दाँतों-तले अँगुली दबाएँ। वह तो जब बोलता है या लिखता है, तो यही निर्देश करता है कि **"शास्त्र और सद्गुरु की शरण ही सबसे श्रेयस्कर मार्ग है। 'साधना' की दीक्षा ग्रहण करो और अपने मानव जीवन का सदुपयोग करो।"**

'साधक' की यही विशेषता है कि वह स्वयं 'मा' की शरण गहे निश्चिन्त रहता है और जो उसके निकट-सम्पर्क में आता है, उसे भी वह वैसी ही शिक्षा देता है।

विचारकों में भी कुछ ऐसे विरले व्यक्ति निकल आते हैं, जो अपनी विचार-शक्ति के द्वारा अन्त में 'साधक' व्यक्ति की महत्ता का अनुमान करने में सफल हो जाते हैं। अथवा कभी-कभी किसी 'साधक'

की कृपा से उन्हें उस महिमा-मयी स्थिति का अनुभव हो जाता है और तब उनकी वह वाचालता साधना-स्तुति की ओर ही मुड़ जाती है क्योंकि वे समझ जाते हैं कि 'साधना' के साथ ही 'विचार' का–बुद्धि का उपयोग है; अन्यथा 'साधना'-विहीन 'विचार' तो कुछ भी नहीं होता । वह केवल बुद्धि - विभ्रम का विलास ही होता है, जो किसी के लिए भी हितकर नहीं होता–हानि-कर भले हो जाए ।

४४ धर्म-प्रचार की आवश्यकता

उस दिन दिल्ली में सात सौ 'तेरह पन्थी' साधुओं ने धर्म का प्रचार करने की प्रतिज्ञा की है । यह सचमुच बड़ा कल्याणकारी तथा आनन्द-दायक समाचार है ।

अपना देश आज स्वाधीन है और स्वाधीन भारत के शासन की बागडोर तपे हुए देश - भक्तों के हाथ में है । उन्होंने देश में जो शासन - व्यवस्था प्रचलित की है, उसे 'धर्म' से सर्वथा निरपेक्ष रक्खा है ।

ऐसी दशा में सभी धर्म तथा मत-मतान्तर अपनी-अपनी उन्नति करने को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं । देश की सरकार न उनकी सहायता ही करेगी और न उनका विरोध ही । इधर सारे देश में जो नाना धर्म, मत-मतान्तर फैले हुए हैं, उनमें एक - मात्र **'सनातन हिन्दू-धर्म'** को छोड़कर और सभी प्रायः पहले ही से सबल तथा उन्नति-शील हैं ।

देश में बहु-संख्या 'सनातन हिन्दू-धर्मावलम्बियों' की ही है, जो सदियों से विरोधी वातावरण के धक्के खाते-खाते प्राणों से शून्य तो नहीं हो गए हैं, परन्तु यह सच है कि वे पूर्ण रूप से निस्तेज तथा शक्ति-हीन हो रहे हैं । ऐसे समाज को सबल बनाने की पूर्ण आवश्यकता है क्योंकि सारे देश की जन-संख्या का अधिकांश ऐसे ही लोगों से वर्धमान हो रहा है ।

उपर्युक्त साधुओं के अभिनव प्रचार-कार्य से हिन्दू - धर्म के नेताओं को शिक्षा ग्रहण कर गति-शील होना चाहिए । उनसे हमारी यहाँ विनम्र प्रार्थना है कि वे अपने त्रस्त तथा पीड़ित एवं धर्म-दृष्टि से इतस्ततः होनेवाले विशाल हिन्दू-समाज का धार्मिक नेतृत्व शीघ्रातिशीघ्र ग्रहण कर उसे वैदिक मार्ग पर आरूढ़ करने का अपना सत्-प्रयत्न करें क्योंकि उसी से 'सनातनी हिन्दुओं' का कल्याण तो होगा ही, साथ ही देश का भी ।

४५ 'मन्त्र-साधना' का वास्तविक रूप

मानव 'भौतिक' प्राणी है । उसका भौतिकता से घनिष्ठ सम्बन्ध है । वह 'भौतिक' सुखों के लिए आतुर रहता है । यह उसका नैसर्गिक स्वभाव है, परन्तु संसार में सुख और दुःख दोनों का समान रूप से अस्तित्व है । प्राणी को जहाँ सुख की उपलब्धि है, वहाँ दुःख के आक्रमणों से वह बच नहीं सकता, परन्तु 'भौतिक' सुख का लोलुप मानव दुःख की व्यथा सहने से घबरा जाता है । अतएव वह इसी बात का बराबर प्रयत्न करता है कि उसे सुख की ही उपलब्धि सतत होती रहे, जो कदापि सम्भव नहीं है । कर्मानुसार उसे दुःख भोगना ही पड़ता है । अतएव उसकी निवृत्ति के लिए पुरुषार्थ के हार मान जाने पर वह **'अध्यात्म-भावना'** का सहारा लेता है ।

'भौतिकता' की भाँति 'आध्यात्मिकता' से भी मानव का सम्बन्ध कम नहीं है, किन्तु इस 'सम्बन्ध' का अनुभव वह तभी करता है, जब वह दुःखों का आखेट बनता है ! उसके इस 'सम्बन्ध' के

प्रति उसके पूर्व-पुरुषों ने उसे भले प्रकार उपदिष्ट कर रखा है। फलतः वह अपने पूर्वजों की प्रेरणा से **'अध्यात्म-मार्ग'** का अनुसरण करता है, जिससे वह दुःखों के क्लेश से बच सके।

पूर्व-पुरुषों ने और आधुनिक लोगों ने नाना प्रकार के मार्ग पहले ही से निर्दिष्ट कर रखे हैं और तादृश ही निर्देश शास्त्रों में हैं। उन्हीं में से किसी एक को ग्रहण कर दुःखी मानव अन्त में सुख की उपलब्धि के लिए अग्रसर होता है, परन्तु अपने बलाबल के अनुसार वह इस गन्तव्य मार्ग पर भी सफलता या असफलता का सामना करता है क्योंकि इन मार्गों के अनुसरण में भी यह कोई आवश्यक नहीं है कि उसे सफलता मिल ही जाय।

देखा गया है और माना भी जाता है कि अन्यों की अपेक्षा **'मन्त्र-साधना'** में सफलता की विशेष सम्भावना होती है। प्राचीन ग्रन्थ तो इसके उदाहरणों से भरे पड़े हैं। देवताओं ने और उनसे कहीं अधिक उनके प्रतिद्वन्द्वी असुरों ने **'मन्त्र-साधना'** से सफलताएँ प्राप्त की थीं। इनकी जो कथाएँ पुराण-ग्रन्थों में अत्यधिक संख्या में मिलती हैं, उनसे हमारे इस कथन की पुष्टि होती है। उन्हीं से यह भी सिद्ध होता है कि जब यह देखा गया कि **'मन्त्र-साधना'** का असुरों ने अत्यन्त दुरुपयोग किया, तब 'मन्त्र-विद्या' के प्रथम उद्गाता सदा-शिव ने सारी विद्या को कीलित कर दिया, जिससे वह उतना सरल और सुसाध्य न रह गई।

तथापि **'मन्त्र-विद्या'** की महिमा आज भी ज्यों-की-त्यों उसी रूप में विद्यमान है और लोग अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए उसकी प्राप्ति के लिए प्रायः हैरान होते दिखाई पड़ते हैं, परन्तु उसका रहस्य अब दुर्बोध-सा हो गया है। मानव के स्वार्थ ने एक अमोघ अस्त्र को आज कितना असाध्य बना दिया है, यह एक विचारणीय बात है। स्वार्थ की भावना ने उसकी आध्यात्मिकता के मार्ग में भी रोड़े अटका दिए हैं!

जो 'अध्यात्म-तत्त्व' परमानन्द-प्रदायक रहा है; संसार के दुःखों से त्रस्त प्राणी जिसका सहारा लेकर अनायास ही परमानन्द की उपलब्धि करते थे; उसी पवित्र मार्ग को स्वार्थ की भावनाओं में परिणत करके स्वार्थी मानव ने उसे भी बेकार-सा बना अपने पैरों में अपने हाथों कुल्हाड़ी मार ली! आज के मानव की परिस्थितियाँ हमें ऐसा ही कहने को बाध्य कर रही हैं, नहीं तो वे विद्याएँ कहीं चली थोड़े ही गई हैं! वे तो आज भी पहले ही की तरह विद्यमान हैं; केवल उनके उपयोग या प्रयोग में निस्सन्देह अन्तर आ गया है।

जो सदुद्देश्य से **'अध्यात्म-विद्याओं'** का सदुपयोग करते हैं, वे आज भी परमानन्द की उपलब्धि करते पाए जाते हैं। हाँ, यह सच है कि ऐसों की संख्या सीमित अवश्य हो गई है। अमोघ **'मन्त्र-साधना'** के सम्बन्ध में भी यही बात लागू है। यदि मानव उसका सदुपयोग करे, तो 'अध्यात्म-तत्त्व' की दृष्टि से उसको 'आध्यात्मिकता' के मार्ग पर अवश्य अभूत-पूर्व सफलता प्राप्त होगी, परन्तु आज कितने लोग हैं, जो रहस्य की ओर ध्यान देने को तैयार हों?

प्रायः सभी लोग स्वार्थ की भावना से ही 'अध्यात्म' की ओर बढ़ते दिखाई देते हैं। जो थोड़े बहुत निःस्वार्थ भाव से उस ओर बढ़ते हैं, वे भी कुछ आगे चलने पर कुछ प्रकाश पाते ही स्वार्थ की भावनाओं में पड़ जाते हैं।

तेरे ही भरोसे रहौं प्रगट मगोसे रहौं,
और के न रोसे मन ऐसो अभिमानी है।
द्वार परे तेरे रहौं और के न तेरे,
जगदम्ब ! अवलम्ब तेरे एक तू भवानी है।

उक्त अनमोल अष्टक के षष्ठ छन्द (!) तक तो 'जगदम्ब अवलम्ब मेरे एक तू भवानी है'—यह रूप है, किन्तु सप्तम और अष्टम में —'जगदम्ब ! अवलम्ब तेरे एक तू भवानी है'—यह रूप है। जगदम्ब के समक्ष ! और मेरे-तेरे—यह रूपान्तर छापे की भूल शायद न हो। दैनिक पाठ में इस रूपान्तर का कुछ महत्त्व बनेगा क्या ? कुछ प्रकाश डालने की कृपा करें—(**'छापे की भूल' के लिए खेद है। 'तेरे' नहीं, 'मेरे' ही होना चाहिए—सं०**)

'स्वर्णोत्सव-अर्द्धशताब्दी'—**किसी भी प्रकाशन के लिए महिमा-गरिमा-पूरित संयोग है। फिर 'चण्डी' तो माँ को अर्पित है—इसके दीर्घ जीवन पर क्या शङ्का ? मुझ जैसे कितने न जाननेवाले होंगे, जिन्हें जानकारी मिल ही गई और 'चण्डी' - प्रकाशन का लाभ मिला। यह संख्या बढ़ती ही जायगी—निस्सन्देह। उत्तर बिहार, बङ्गाल, पूर्वोत्तर प्रदेश का क्या कहना—माँ की उपासना वहाँ तो वृहत् रूप से प्रचलित है। दक्षिण बिहार भी, जहाँ का मैं हूँ, माँ की उपासना से ओत - प्रोत है। वंशानुवंश, पारिवारिक, पारम्परिक, व्यक्ति-गत, सार्वजनिक, सामूहिक—सभी प्रकार के पूजा - स्थल हैं, जहाँ अधिकतर 'शारदीय' तथा 'वासन्ती' नव-रात्र और माँ की साङ्गोपाङ्ग 'महा-पूजा' होती है। हमारे ग्राम में तो माँ भगवती की 'महा - पूजा' सामूहिक रूप से बहुत सालों से होती आ रही है—'दुर्गा - मण्डप' भी निर्मित हो चुका है। अब तो 'वासन्ती नव-रात्र' भी अनुष्ठित होने लगा है। भगवती ग्राम - देवी सप्त-माताओं का मन्दिर तो बहुत ही प्राचीन है।**

इस अकिञ्चन का निजी अनुभव भी माँ की 'महा - पूजा' से निकटस्थ जुड़ा रहा है। 'चण्डी' दक्षिण बिहार के प्रान्तों में पहुँचे, यही माँ से विनती है। आपकी ओर से इस प्रयास में सहयोग अर्पित है ही। फल तो माँ के हाथ है।

आपने **'चण्डी'** के पिछले ४९ वर्षों की कठिन यात्रा का जिक्र किया है—अनगिनत समस्याएँ आई होंगी—ठीक भी है, किन्तु श्रेष्ठ-वर पण्डित देवीदत्त शुक्ल के कष्ट का स्मरण करें कि किस प्रकार **'चण्डी'** के स्थापन, शैशव और उत्थान उन्हें देखना भोगना पड़ा, तो अभी तो बड़ा ही सन्तोष-प्रद लगता है—इसके विकास की बहु-मुखी छवि को देखकर। आपके अथक प्रयास से **'चण्डी'** की यात्रा चल रही है—यह माँ की महती कृपा है।

हाँ, 'अर्थ' बिना समर्थ कैसे ? मन में आता है कि आप क्यों न एक **'स्वर्ण - जयन्ती - कोष'**—**'चण्डी'** के हित कल्पित करें। पूरे एक वर्ष तक 'जयन्ती' मनाएँगे। श्रद्धालु जनों का सहयोग मिलेगा ही। विचार-विमर्श करके यदि ठीक समझें, तो **'चण्डी स्वर्ण-जयन्ती-कोष'** के नाम एक अनुरोध (अपील) चण्डी-प्रकाशन आदि संस्थाओं द्वारा केवल ग्राहकों के नाम ही नहीं, वरन् सार्वजनिक सहयोग की अपील करके छपवा दें, वितरित कर दें। स्व - नाम - धन्य पं० देवीदत्त शुक्ल के प्रशंसकों की बात भी मतलब रखती है, उनके द्वारा साहित्यिक, सांस्कृतिक व आध्यात्मिक क्षेत्रों से भी सहयोग की आशा की जा सकती है। इस 'जयन्ती-कोष' में लोगों का सहयोग विभिन्न रूप में आ सकता है।...'

—**रनबीरप्रसाद**, कलकत्ता-७०००२९
अवकाश प्राप्त मुख्य आयुक्त आय-कर, पं० बङ्गाल

रजि० सं० ३२९८१/५७] जून, १९९१ [रजि० सं० ए० डी० ९६
सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक : श्री ऋतशील शर्मा, परा वाणी प्रेस, प्रयाग–२११००६

पूजा-रहस्य

हिन्दुओं की पूजा का व्याख्यात्मक अनूठा विवरण

मूल्य १५-०० रु०

सचित्र
मुद्राएँ एवम् उपचार

हिन्दुओं की पूजा में प्रयुक्त होनेवाली मुद्राओं एवं पूजोपचारों (आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, नैवेद्य, ताम्बूल, प्रदक्षिणा आदि) का प्रामाणिक वर्णन।

मूल्य १०-०० रु०

सविधि
श्री कुण्डलिनी साधना

षट्-चक्रों एवं कुण्डलिनी-योग का सचित्र विवेचन

मूल्य १५-०० रु०

मन्त्र-कोष

पञ्च-देव (गणेश, सूर्य, विष्णु, शिव, भगवती दुर्गा), दश-महा-विद्या (काली, तारा, श्रीविद्या आदि) तथा विविध देवताओं के मन्त्रों का अनुपम कोष, बीज-कोषादि

मूल्य ५५-०० रु०/सजिल्द मूल्य ६५-०० रु०